वर्ष ६ अङ्क २ अप्रैल १९४८

श्रीअरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित
त्रैमासिक पत्रिका
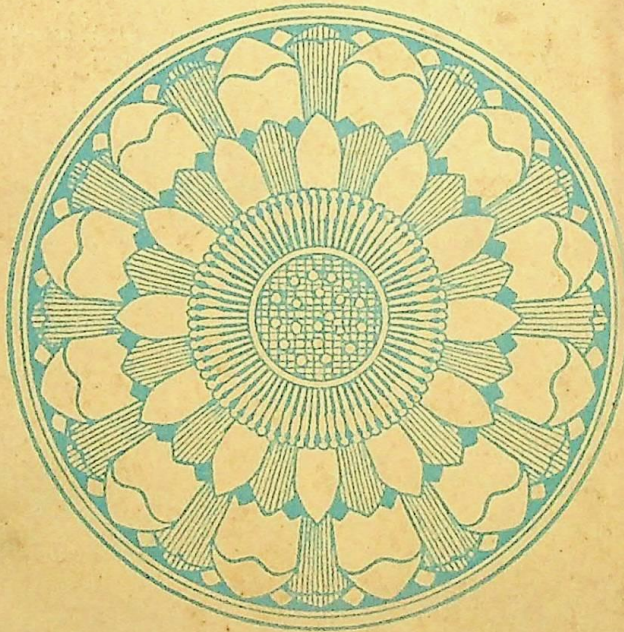
अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम,
पांडिचेरी

जो भगवान् के प्रति निःशेष रूप से तथा अंग अंग में आत्मसमर्पण करते हैं उन्हें ही भगवान् अपने आपको प्रदान करते हैं। उन्हें ही शान्ति, प्रकाश, शक्ति, आत्म-सुख, स्वातन्त्र्य, विशाल-भाव, अत्युच्च ज्ञान तथा अनन्त आनन्द प्राप्त होते हैं।

श्रीअरविन्द

प्रकाशक
श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर
नयी देहली

मूल्य
एक अङ्क १।।)
वर्ष भर के चारों अङ्क ५)

विदेश का चन्दा
एक अङ्क ३।। शिलिंग वार्षिक १२।। शिलिंग

अदिति

बाईसवीं कला

२४ अप्रैल १९४८ के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष में
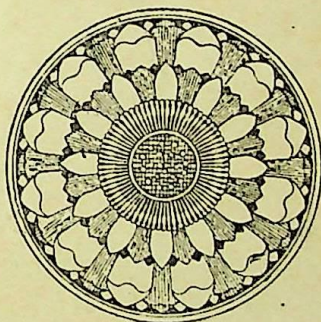
अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरो

सूचना

सार्वजनिक पुस्तकालयों को अदिति आधे दाम पर मिल सकती है।

ग्राहकों से—

१. जो ग्राहक दर्शन पर आ रहे हों और यदि वे दर्शन के समय अपनी अदिति की प्रति स्वयं पांडिचेरी में ही प्राप्त करना चाहते हों वे कृपया दर्शन से ४-५ दिन पहले हमें सूचित कर दिया करें। उनकी प्रति तब रोक ली जायगी।

२. अदिति का चन्दा भेजते समय मनीआर्डर के कूपन पर अपना पता साफ-साफ लिखकर जरूर भेजें।

३. पत्रव्यवहार में अपनी ग्राहक-संख्या यथासंभव लिखने की कृपा करें तथा उत्तर के लिये डाक-व्यय (टिकट) भी भेजें।

४. अदिति के अंक हमेशा 'सरटिफिकेट ऑफ पोस्टिंग' के अधीन भेजे जाते हैं। यदि कोई ग्राहक रजिस्ट्री द्वारा मंगाना चाहें तो वे उचित डाकव्यय भेज दें।

प्रति प्राप्त न होने की दशा में दूसरी प्रति देनी सामान्यतया संभव नहीं होती।

—प्रबंधक 'अदिति'

Le Directeur : Haradhan Bakshi
Printed at Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.
140—48—700

विषय-सूची

अदिति, अप्रैल १९४८

आरोहण—सत्य की ओर (श्री माताजी की कला-कृति) . . . .
मातृवचनामृत— . . . .
प्रार्थना व ध्यान ७३
साहस ७४
श्रीअरविन्दवाणी— . . . .
विशेष प्रेरणा ८२
ईशोपनिषद्—आत्मोपलब्धि ८३
श्रीअरविन्द के पत्र—अन्तःपुरुष के तीन अनुभव (३) ८९
श्रीअरविन्द का योग-समन्वय— . . . .
आचार के मानदण्ड और आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य ९२
नील विहग (कविता) श्री सुमित्रानंदन पंत १०२
विविध— . . . .
प्रकाश की ओर . . . . . . श्री नलिनीकान्त गुप्त १०३
चले चल . . . . श्री अभय १०५
योग-दीक्षा १०७
अदृश्य शक्ति का हाथ . . . . . श्री अनूपलाल १०८
अभी साधु मत बन . . . . श्री गिरधरलाल ११२
गीता का अधिकारी . . . . . श्री केशवदेव आचार्य ११३
श्री मां, जीवन ज्योति जगा दे ! . . . श्री मोहन स्वामी ११६
समर्पण का सौन्दर्य . . . . . श्री रामेश्वरीदेवी ११७
श्रीअरविन्द-दर्शन . . . . . . डा. इन्द्रसेन १२०
कविता-कुंज— . . . .
(१) प्रश्न इंगित . . . . . . श्री सुमित्रानंदन पंत १२५
(२) दूर—कहीं— . . . . . . श्री वंशीधर १२६
(३) आशा को चैतन्य करो हे ! श्री बालमुकुन्द मिश्र १२७
संपादकीय (विचार और अभीप्सा)— . डा. इन्द्रसेन १२८
(१) आध्यात्मिक शिक्षण . . . .
(२) "पूर्व और पश्चिम का नव मिलन" . . . .
(३) चिन्तन और भाषा . . . .
साहित्य-समीक्षा १३४
जीवन-साहित्य . . . .
दक्खिनी हिन्द . . . .

आरोहण — सत्य की ओर
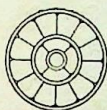
मातृवचनामृत—

प्रार्थना व ध्यान

मेरे हृदय की नीरवता में तेरी ध्वनि एक मधुर गीत के समान मुझे सुन पड़ती है। और वह मेरे मस्तिष्क में कुछ अपूर्ण शब्दों के रूप में अनूदित हो जाती है। पर फिर भी वे तेरे भाव से भरपूर हैं। ये शब्द पृथ्वी को संबोधित करते हैं और कहते हैं: बिचारी दुखी दुनिया, तू याद रख कि मैं तुझमें निवास करता हूं, तू आशा मत खो, तेरा प्रत्येक प्रयत्न, प्रत्येक दुःख, प्रत्येक हर्ष और प्रत्येक शोक, तेरे हृदय की प्रत्येक याचना, तेरी आत्मा की प्रत्येक अभीप्सा, तेरी ऋतुओं का प्रत्येक पुनरावर्तन, सभी, सभी बिना अपवाद के, वह भी जो कि तुझे बुरा लगता है अथवा वह जो अच्छा लगता है, वह जो तुझे असुन्दर प्रतीत होता है अथवा वह जो सुन्दर प्रतीत होता है, सभी तुझे अचूक रूप से मेरी ओर लाते हैं। और मैं हूं वह शान्ति जिसकी सीमा नहीं, वह प्रकाश जिसमें अंधियारा नहीं, मैं हूं पूर्ण समस्वरता, निश्चयात्मक भाव, विराम और परम कृपा।

ओ दुनिया! सुन उस पवित्र ध्वनि को जो उठ रही है।

सुन और साहस बांध।

५ फरवरी, १९१३ —श्री माताजी

साहस

तुम पानी में गिर पड़ते हो। वह विपुल जलराशि तुम्हें भयभीत नहीं करती। तुम हाथ पांव मारते हो, साथ ही तैरना सिखानेवाले अपने गुरु को धन्यवाद देते हो। तुम लहरों पर काबू पा लेते हो और बच निकलते हो। तुम बहादुर हो।

तुम सो रहे थे। 'आग' 'आग' की आवाज ने तुम्हें चौंका दिया। तुम बिस्तर पर से कूद पड़ते हो; सामने अग्नि की लाल लपटें दिखायी देती हैं। तुम उस घातक भय से त्रसित नहीं होते। धुएं, चिनगारियों और लपटों के बीच में से होकर तुम भाग निकलते हो और अपने-आपको बचा लेते हो। यह साहस का काम है।

बहुत दिन हुए मैं इंग्लैंड के एक बच्चों के स्कूल में गयी थी। वहां तीन से सात वर्ष तक के छात्र थे। उनमें लड़के लड़कियां दोनों थे। वे सब बुनने, चित्रकारी करने, कहानी सुनने-सुनाने, गाने आदि में लगे हुए थे।

उनके अध्यापक ने मुझसे कहा—"हम अब अग्नि से बचने का अभ्यास करेंगे। आग सचमुच में नहीं लगी है। पर बच्चों को यह सिखाना है कि किस प्रकार खतरे का संकेत पाते ही झटपट उठकर भाग जाना चाहिये।"

उसने सीटी दी। उसी दम बच्चों ने अपनी पुस्तकें, पेन्सिलें और बुनने की सलाइयां छोड़ दीं और उठकर खड़े हो गये। दूसरे संकेत पर सब, एकके पीछे एक, बाहर खुले में आ गये। कुछ ही क्षणों में श्रेणी खाली हो गयी। उन छोटे बच्चों ने आग के खतरे का सामना करना और साहसी बनना सीखा था।

तुम किसकी रक्षा के लिये तैरे थे? अपनी रक्षा के लिये।

तुम किसको बचाने के लिये आग की लपटों में से गुज़रे थे? अपने-आपको बचाने के लिये।

बच्चों ने किसके बचाव के लिये आग के भय का सामना किया था? अपने बचाव के लिये।

प्रत्येक अवस्था में साहस का प्रदर्शन अपनी रक्षा के लिये किया गया था। क्या यह अनुचित था? बिलकुल नहीं। अपने जीवन की रक्षा करनी और उसे बचाने के लिये वीरता होनी सर्वथा उचित है। पर एक वीरता इससे भी बड़ी है—वह वीरता जो दूसरोंकी रक्षा के लिये काम में लायी जाती है।

*

मैं तुम्हें माधव की वह कहानी सुनाती हूं जो भवभूति ने लिखी थी।

माधव मन्दिर के बाहर घुटने टेके बैठा था कि उसने एक दुख-भरी आवाज़ सुनी। अन्दर घुसने के लिये उसने रास्ता पा लिया और देवी चामुंडा के कक्ष में उसने झांका। उस भयानक देवी पर बलि चढ़ाने के लिये एक लड़की को वहां तैयार रखा हुआ था।

वह बेचारी मालती थी। वह युवती सोती अवस्था में ही वहां लायी गयी थी। वहां पुजारी और पुजारिन के पास वह बिलकुल अकेली थी। पुजारी ने अपना चाकू जिस समय ऊपर उठाया उस समय वह अपने प्रेमी माधव का ध्यान कर रही थी–"माधव, मेरे हृदयेश्वर, मेरी यही प्रार्थना है कि अपनी मृत्यु के बाद भी मैं तुम्हारी याद में रह सकूं। जिनको प्रेम अपनी लम्बी और मधुर याद में सुरक्षित रखता है, उनकी मृत्यु नहीं होती।"

एक चीख के साथ वीर माधव उस बलि-गृह में कूद पड़ा। पुजारी के साथ उसका घोर युद्ध हुआ। मालती बचा ली गयी।

माधव ने इस साहस का प्रयोग किसके लिये किया था? क्या वह अपने लिये लड़ा था? हां, पर उसके साहस का केवल यही कारण नहीं था। उसने दूसरेकी रक्षा के लिये भी लड़ाई की थी। उसने एक दुखी की आर्त्त ध्वनि सुनी थी जिसने उसके वीर-हृदय को सीधा जा छुआ था।

*

यदि तुम ज़रा सोचो तो तुम्हें कितनी ही इसी प्रकार की आंखों देखी घटनाएं याद आ जायंगी। तुमने निश्चय ही देखा होगा किस प्रकार एक व्यक्ति भय का संकेत पाते ही किसी दूसरे पुरुष, स्त्री या बच्चे की सहायता के लिये दौड़ पड़ता है।

तुमने समाचारपत्रों या कहानियों में भी इस प्रकार की साहसपूर्ण घटनाओं के बारे में अवश्य पढ़ा होगा। तुमने यह सुना भी होगा किस प्रकार आग बुझानेवाले आग की लपटों में ग्रस्त घरों से लोगों को बचाते हैं; किस प्रकार खान में काम करनेवाले गहरे कुएं में उतरकर अपने साथियों को पानी, आग और दम घोंटनेवाली गैस से बचाने के लिये बाहर निकाल लाते हैं; भूचाल से हिलते घरों में से लोग घर की दीवारों के गिरने का डर होते हुए भी दुर्बल व्यक्तियों को बाहर लाने का साहस करते हैं, नहीं तो वे मलवे के नीचे दबकर मर गये होते; किस प्रकार नागरिक अपने नगर या मातृभूमि को बचाने के लिये शत्रुओं का सामना करते, भूख प्यास सहते और घायल तक हो जाते हैं।

इस प्रकार हमने दो प्रकार के साहस देखे हैं–एक अपनी सहायता के लिये काम में लाया जाता है दूसरा औरों की सहायता के लिये।

*

मैं तुम्हें वीर विभीषण की कहानी सुनाती हूं। उसने एक ऐसे खतरे का सामना किया था जो मृत्यु के खतरे से भी अधिक भयानक था। वह एक राजा के क्रोध के सामने डट गया था और उसने उसे बुद्धिमानी की एक ऐसी सलाह दी जिसे देने का किसी और को साहस नहीं हुआ था।

लंका का राक्षस राजा दश शीशवाला रावण कहलाता था।

वह श्री सीताजी को अपने रथ में बैठा, उनके पति से दूर, लंका-द्वीप में स्थित अपने महल में ले गया था। जिस महल और जिस बाग में राजकुमारी सीता को बन्द कर दिया गया था वे बड़े विशाल और मोहक थे, फिर भी वे दुखी थीं; दिन रात रोती थीं। उन्हें यह भी पता नहीं था कि वे अपने स्वामी राम को पुनः देख भी सकेंगी या नहीं।

यशस्वी राम को वानर-राज हनुमान् से यह पता चल गया कि उनकी स्त्री किस स्थान पर कैद करके रखी गयी है। वे अपने सुशील भाई लक्ष्मण और वीरों की एक बड़ी सेना लेकर बंदिनी सीता की सहायता के लिये चले।

जब राक्षस-राज रावण को राम के आने का पता चला तो वह डर के मारे कांपने लगा।

अब उसे दो प्रकार की सलाह मिली। उसके राज-दरबारियों का एक झुंड उसके सिंहासन के चारों ओर इकट्ठा हो गया और कहने लगा—"सब ठीक है महाराज! डर की कोई बात नहीं है। आपने देवताओं और असुरों दोनोंको जीत लिया है; राम और उसके साथी हनुमान् के बन्दरों को जीतने में कोई कठिनाई नहीं होगी।"

ज्योंही ये गुलगपाड़िये राजा के पास से हटे, उसके भाई विभीषण ने वहां प्रवेश किया और उसके आगे घुटने टेककर उसके पैर चूमे। फिर उठकर वह सिंहासन की दाईं ओर बैठ गया और बोला—"मेरे भाई, यदि तुम सुख से रहना चाहते हो या लंका के सुन्दर द्वीप के सिंहासन की रक्षा करना चाहते हो तो सुन्दरी सीता को वापिस कर दो, क्योंकि वह दूसरेकी स्त्री है। राम के पास जाओ और उनसे क्षमा मांगो। वे तुम्हें निराश नहीं करेंगे। इतने दुःसाहसी और अभिमानी मत बनो।"

एक और बुद्धिमान् व्यक्ति मलयावन ने यह बात सुनी और वह इससे संतुष्ट हुआ। उसने राक्षस-राज से आग्रहपूर्वक कहा—"अपने भाई की बात पर विचार करो, क्योंकि इसने सत्य कहा है।"

"तुम दोनों दुष्टाशयवाले हो", राजा ने उत्तर दिया, "कारण, तुम मेरे शत्रुओं का पक्ष लेते हो।"

उन दस सिरों की आंखों से ऐसे क्रोध की चिनगारियां निकलने लगीं कि मलयावन तो डर के मारे कमरे से भाग गया। पर विभीषण अपने आत्म-बल से वहीं डटा रहा, बोला—"स्वामी, प्रत्येक मनुष्य के हृदय में विवेक और अविवेक दोनोंका निवास है। जिसके हृदय में विवेक होता है उसके लिये जीवन सुखकारक है; यदि वहां अविवेक का राज्य हो तो फिर बस दुख ही दुख है। भाई, मुझे डर है कि तुम्हारे हृदय में अविवेक अड्डा जमाये हुए है क्योंकि जो तुम्हें बुरा परामर्श देते हैं तुम उन्हींकी बात पर कान धरते हो। वे तुम्हारे सच्चे मित्र नहीं हैं।"

इतना कह वह चुप हो गया और उसने राजा के पांव फिर चूमे।

रावण चिल्लाया—"दुष्ट! तू भी मेरे शत्रुओं में से है! बस, ऐसे मूर्खता के शब्द और

मत बोल। ऐसे शब्द तू उन साधु-संन्यासियों को जाकर सुना जो जंगलों में रहते हैं, उससे मत कह जिसने जिन-जिन शत्रुओं से युद्ध किया है उन सबपर विजय प्राप्त की है"–ऐसा कहते कहते उसने अपने वीर भाई विभीषण के एक लात जमा दी।

मन में व्यथित हो विभीषण उठ बैठा और राजा का घर छोड़कर चला गया।

जरा मन में डर न मानते हुए उसने सब कुछ रावण से साफ-साफ कह दिया था और अब क्योंकि उस दश शिरवाले ने उसकी बात न सुननी चाही तो वह चले जाने के सिवाय और कर भी क्या सकता था।

विभीषण का यह कार्य शारीरिक साहस का कार्य था क्योंकि उसने अपने भाई की ठोकरों का डर नहीं माना, पर साथ ही यह एक आत्म-निर्भयता का भी कार्य था। वे बातें, जो अन्य राजदरबारियों ने उतना शारीरिक बल रखते हुए भी अपने मुंह से नहीं निकाली थीं, इसने राजा से कहने में जरा संकोच नहीं किया। यह मन का साहस है जिसे हम नैतिक बल कहते हैं।

*

ऐसा साहस इजराइल के नेता मूसा में भी था। इसने मिस्र देश के राजा फारो से यह मांग की थी कि वह सताये हुए यहूदी लोगों को स्वतंत्र कर देवे।

यही साहस पैगम्बर मोहम्मद में भी था जिसने अपने धार्मिक विचार अरब-निवासियों पर प्रकट कर दिये थे। उन लोगों के मृत्यु का डर दिखाने पर भी उसने चुप रहना अस्वीकार कर दिया।

गौतम बुद्ध में भी ऐसा ही साहस था। इन्होंने भारतवासियों को एक नवीन और उच्च रास्ता बताया और बोधिवृक्ष के नीचे दुष्ट प्रेतात्माओं द्वारा सताये जाने पर भी डर नहीं माना।

यह साहस ईसामसीह में भी था जिन्होंने लोगों को यह उपदेश दिया–"एक दूसरेसे प्रेम करो।" न वे यरुशलम के धर्माचार्यों से डरे जिन्होंने उन्हें ऐसा सिखाने से मना किया था और न रूम के लोगों से जिन्होंने उन्हें सूली पर चढ़ा दिया था।

हमने अभी साहस की तीन श्रेणियों और तीन मात्राओं का निरूपण किया है।

शारीरिक साहस, जो अपनी रक्षा के लिये प्रयुक्त होता है।

साहस, जो मित्र, पड़ोसी और कष्ट में पड़ी मातृभूमि के लिये दिखाया जाता है।

अन्त में वह नैतिक साहस आता है जो अन्यायी मनुष्यों का सामना करना सिखाता है–चाहे वे कितने ही बलशाली क्यों न हों–सच्चाई और न्याय की आवाज उनके कान तक पहुंचाता है।

*

अलमोड़े के राजा के पहाड़ी प्रदेश पर कुछ आक्रमणकारियों ने धावा बोल दिया। उनको मार भगाने के लिये एक नयी सेना खड़ी की गयी। उसमें कई लोगों ने अपना नाम लिखाया। प्रत्येक को बढ़िया तलवार से लैस कर दिया गया।

राजा ने आज्ञा दी–"बढ़े चलो।"

उसी दम सबने बड़े जोर-शोर से अपनी मियानों में से तलवारें खींच लीं और उन्हें ऊपर चमकाकर वे सब जोर से चिल्लाये।

"यह क्या?" राजा ने पूछा।

उन्होंने उत्तर दिया—"स्वामी, हम तैयार हो रहे हैं जिससे हमारे शत्रु कहीं हमें असावधान पाकर हमपर चढ़ न आवें।"

"तुम डरपोक और घबराये हुए हो" राजा ने उनसे कहा, "तुमसे कुछ न होगा। जाओ, अपने घर लौट जाओ।"

तुम देखोगे कि राजा ने इस प्रकार तलवारें खींच लेने और शोर-गुल मचाने को जरा महत्त्व नहीं दया। वह जानता था कि सच्ची वीरता में हल्ला करने और तलवारें वजाने की आवश्यकता नहीं होती।

*

इसके विपरीत, निम्नलिखित कहानी में तुम देखोगे कि कितनी शान्तिपूर्वक लोगों ने कार्य किया और किस प्रकार समुद्र के बड़े खतरे के सामने भी वे वीरतापूर्वक डटे रहे।

सन् १९१० के मार्च महीने के अन्त में स्काटलैंड का एक जहाज आस्ट्रेलिया के यात्रियों को आशा अंतरीप ला रहा था। आकाश में बादल का नाम-निशान नहीं था। समुद्र नीला और शान्त था।

अचानक आस्ट्रेलिया के पश्चिमी किनारे से छः मील दूर जहाज एक चट्टान से जा टकराया।

जहाज के सब कर्मचारी एकदम इधर उधर भागने लगे। सभी अपने कार्य में व्यस्त थे। सीटियों की आवाज सुनायी देने लगी। पर इस हलचल का कारण न तो कुप्रबन्ध था और न भय।

एक हुक्म गूंज उठा—

"डोंगियों पर चढ़ो।"

यात्रियों ने सुरक्षा की पेटियां पहन लीं।

एक नेत्रहीन व्यक्ति अपने नौकर का हाथ थामे डैक पर आया। सबने उसके लिये रास्ता छोड़ दिया। वह दुर्बल था। सब चाहते थे कि पहले उसको सहायता मिले।

कुछ क्षणों के बाद ही जहाज खाली हो गया, और फिर शीघ्र ही वह नीचे बैठ गया।

उन डोंगियों में की एक स्त्री ने गाना शुरू किया। लहरों के शोर-गुल से बीच-बीच में गाने की आवाज दब जाती थी पर फिर भी जो एक-आध कड़ी मल्लाहों के कान में पड़ जाती उससे उनके बाहुओं को बल मिल रहा था।

"किनारे की ओर बढ़ो, नाविको,
किनारे की ओर बढ़ो।"

अन्त में वे सब जहाज की दुर्घटना से बचे हुए लोग किनारे तक पहुंच गये और दयालु मछुओं द्वारा किनारे पर लाये गये।

एक यात्री के भी प्राण नहीं गये। इस प्रकार चार सौ पचास व्यक्तियों ने अपने शांत-संयत स्वभाव से अपनी रक्षा कर ली।

*

अब मैं तुम्हें एक ऐसे शांतिपूर्ण साहस के विषय में बताती हूं जिसने बिना किसी प्रदर्शन और धूम धड़ाके के कई उपयोगी और भले कार्य किये हैं।

एक ग्राम के साथ-साथ एक गहरी नदी बहती थी। उसमें केवल हिन्दुओं के पांच सौ घर थे। उन ग्राम-वासियों ने अभीतक भगवान् बुद्ध के उपदेश नहीं सुने थे। सो बुद्ध ने उनके पास जाने और उनको अपना उत्कृष्ट मार्ग बताने का निश्चय किया।

वे एक विशाल वृक्ष के नीचे बैठ गये। उसकी शाखाएं नदी के किनारे तक फैली हुई थीं। ग्रामवासी सब नदी के परले किनारे पर इकट्ठे हुए थे। अब बुद्ध ने अपनी आवाज उठायी और उन्हें पवित्रता और प्रेम का संदेश सुनाया। उनके उपदेश एक चामत्कारिक ढंग से उस बहते हुए पानी के ऊपर होते हुए नदी के परले किनारे तक पहुंच गये। फिर भी उन लोगों ने उनके वचनों पर विश्वास करना अंगीकार नहीं किया और उनके विरुद्ध वे बड़बड़ाने लगे।

उनमेंसे एक अभी और जानना चाहता था। उसने बुद्ध के निकट जाना चाहा, पर वहां न कोई नौका थी और न ही पुल था। उस मनुष्य ने मन में दृढ़ साहस रख नदी के गहरे पानी पर चलना शुरू कर दिया। इस प्रकार वह उस गुरु के पास पहुंचा। उन्हें उसने प्रणाम किया तथा बड़े हर्ष से उनके उपदेश सुने।

जैसा कि कहानी में कहा गया है, क्या उस मनुष्य ने सचमुच चलकर नदी पार की थी, यह हम नहीं जानते। पर फिर भी उसने इस मार्ग पर चलकर हर तरह से साहस का ही परिचय दिया था—ऐसा मार्ग जो उन्नति-पथ की ओर ले जाता है। उसके उदाहरण से गांव के दूसरे लोगों ने भी फिर बुद्ध के उपदेश सुने और उनके अन्तःकरण उन अत्यन्त शुद्ध विचारों की ओर खुल गये।

*

एक साहस है जो नदियां लांघ सकता है। एक ऐसा है जो मनुष्य को न्याय-पथ पर ले जाता है। पर सत्य मार्ग पर चलना शुरू करने की अपेक्षा उसपर दृढ़ रहने के लिये जिस साहस की आवश्यकता पड़ती है वह उससे भी बड़ा है।

मुर्गी और उसके बच्चों का एक दृष्टान्त सुनो।

गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था कि तुम अपनी ओर से पूरा प्रयत्न करो, फिर इसपर विश्वास रखो कि उन प्रयत्नों का फल तुम्हें मिलेगा ही।

उसने उनसे कहा—बिलकुल उसी तरह जिस तरह मुर्गी अंडे देकर उन्हें सेती है, पर वह इस बात की जरा चिन्ता नहीं करती कि क्या मेरे बच्चे अपनी चोंचों से अंडा फोड़कर दिन के प्रकाश में आ जाने में समर्थ हो जायंगे? तुम्हें अब अधिक डर नहीं होना चाहिये। यदि तुम सत्य मार्ग पर दृढ़ रहोगे तो तुम प्रकाश तक भी अवश्य पहुंचोगे।

ठीक रास्ते पर चलना, आवेगों, मूढ़ विचारों और कष्टों का सामना करना, सदा आगे ही, प्रकाश की ओर बढ़ने के प्रयत्न में लगे रहना ही सच्चा साहस है।

*

प्राचीन समय में ब्रह्मदत्त नाम का एक राजा बनारस में राज करता था। उसके शत्रुओं में से एकने–जो किसी और देश का राजा था–अपने हाथी को युद्ध की शिक्षा दी थी।

लड़ाई की घोषणा हो गयी। वह विशाल हाथी अपने स्वामी राजा को बनारस की चार-दीवारी तक ले आया।

दीवारों के ऊपर से उन घिरे हुए सैनिकों ने उबलते द्रव्यों और गोफन द्वारा फेंके हुए पत्थरों की उनपर झड़ी लगा दी। इस भयानक वर्षा के सामने एक बार तो हाथी पीछे हट गया। पर जिस आदमी ने उसे सधाया था वह उसकी ओर दौड़ा और बोला–

"अरे हस्ती, तू तो वीर है; वीर के समान कार्य कर और फाटक को जमीन पर दे मार।"

इन शब्दों से उत्साहित हो उस विशाल जन्तु ने फाटक पर एक जोर की चोट की, अन्दर प्रवेश किया और इस प्रकार राजा को विजय दिलायी।

इसी प्रकार साहस वाधाओं और कठिनाइयों को जीतकर विजय का पथ प्रशस्त करता है।

*

देखो, किस प्रकार सबको, चाहे वे मनुष्य हों या पशु, बढ़ावे के शब्दों से सहायता पहुंचायी जा सकती है।

मुसलमानों की एक अच्छी पुस्तक में उदारहृदय व्यक्ति आबू सैयद की एक कहानी है। वह हमें बड़ा अच्छा उदाहरण देती है।

एक बार वह ज्वर से पीड़ित हुआ। उसके मित्रगण उसके स्वास्थ्य का हाल-चाल पूछने उसके घर गये। कवि के लड़के ने द्वार पर उनका स्वागत किया। उसके होठों पर मुस्कराहट थी क्योंकि रोगी पहले से अच्छा था। वे लोग उसके कमरे में पहुंचे और बैठ गये। अपने सदैव के हंसोड़ स्वभाव के अनुसार उसे बोलते सुनकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। अब क्योंकि गर्मी बढ़ चली थी, उसे नींद आ गयी। और लोग भी सब सो गये।

सायंकाल तक सब उठ बैठे। आबू सैयद ने अभ्यागतों का जलपान से सत्कार किया और कमरे को सुवासित करने के लिये धूपबत्तियां जला दीं।

आबू सैयद ने तब प्रार्थना की, फिर उसने उठकर एक छोटी सी स्वरचित कविता पढ़नी शुरू की–

"दुख के समय निराश न हो, क्योंकि प्रसन्नता की एक घड़ी तेरे सारे दुख दर्द भगा देगी।
मरुभूमि की तेज गर्म हवा बह रही है, पर वह ठण्डे समीर में बदल सकती है।
काली घटा उमड़ रही है, पर वह जल-प्रलय करने से पहले ही हट सकती है।
आग लग सकती है, पर तुम्हारे सन्दूकों और पेटियों को छुए बगैर बुझ जायगी।
शोक आता है, पर चला जाता है। इसलिये जब विपत्ति आवे, धैर्यवान् बनो।

समय सब चमत्कारों से बड़ा है। ईश्वर की कृपा से तुम्हें सदा अपने कल्याण की आशा करनी चाहिये।"

इस आशा से भरी सुन्दर कविता को सुनकर सब प्रसन्नता और बल अनुभव करते हुए अपने अपने घर लौट गये। इस प्रकार एक रोगी मित्र ने अपने स्वस्थ मित्रों की सहायता की।

यह निश्चय है कि जो लोग स्वयं साहसी होते हैं वे ही दूसरोंको साहस दे सकते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे एक जलती मोमबत्ती अपनी लौ से दूसरी मोमबत्तियों को जला सकती है।

वीर बालको और बालिकाओ, तुमने यह कहानी पढ़ी है। तुम दूसरेको साहस बंधाना सीखो और स्वयं भी साहसी बनो।

(अनुवादिका–लीलावती)

नैतिक नियमों का भंग तुम तभी कर सकते हो जब कि तुम दिव्य विधान का पालन करो।

*

अपने हृदय को खोलो, और प्रकाश भीतर प्रवेश करेगा तथा निवास करेगा।

*

राधा के निरपेक्ष समर्पण में जो भक्ति है केवल उसीमें कृष्ण के प्रकाश को मन में उतार लाने की शक्ति है।

*

अग्नि के निरन्तर उज्ज्वलित होने से ही पूर्ण प्रेममय समर्पण साधित किया जा सकता है। और इस पूर्ण प्रेममय समर्पण से ही प्राण में शाश्वत शान्ति की प्रतिष्ठा की जा सकती है, उस शान्ति की जिसके आधार पर स्थित है उपलब्धि का प्रारंभ, जो कि रूपांतर को– लक्ष्य को–प्राप्त कराता है।

श्रीअरविन्द-वाणी–

विशेष प्रेरणा

मैं जानता हूं कि यह तुम्हारे लिये तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिये कष्ट का समय है। यह सारे संसार के लिये ऐसा ही है। सभी जगह गड़बड़, दुःख, अराजकता तथा उलटापलटी– यही आज सब वस्तुओं की सामान्य अवस्था है। अच्छी चीजें जो प्रकट होने को हैं पर्दे के पीछे तैयार हो रही या विकसित हो रही हैं तथा बुरी चीजें सर्वत्र प्रबल हैं। एक-मात्र आवश्यकता इस बात की है कि जबतक प्रकाश की घड़ी आ न जाय तबतक हम अडिग और अटल रूप से प्रयत्न में लगे रहें।

* * *

कठिनाइयों और परेशानियों से छुटकारा प्राप्त करने का कदापि यह तरीका नहीं हो सकता कि मन उनके संबंध में चिन्ताव्यग्र रहे और इस तरीके से उनसे बाहर निकलने का यत्न करे; मन की यह आदत उनका हल करने की बजाय केवल उनके पुनः-पुनः आवर्तन का कारण बनती है और चिन्ताव्यग्रता द्वारा उस दृढ़ उलझन को बनाये रखती है। परेशानियों का हल अवश्यमेव उनसे ऊपर और बाहर की किसी वस्तु से ही होना चाहिये। स्थूल मन की–वास्तविक विचारशील बुद्धि की नहीं–कठिनाई यह है कि वह अपने-आपसे बाहर विद्यमान इस विस्तीर्णतर चेतना में विश्वास नहीं करना चाहता क्योंकि वह इससे अनभिज्ञ है; और वह एक सन्दूक के समान अपने-आपमें ही बन्द रहता है, उस प्रकाश को प्रवेश नहीं करने देता जो कि इसके चारों ओर सर्वत्र विद्यमान है और प्रवेश करने के लिये दबाव डाल रहा है। चेतना की क्रिया का यह एक सूक्ष्म नियम है कि यदि तुम कठिनाइयों पर बल देते हो (उनपर बार-बार ध्यान देते हो) तो कठिनाइयां चिमटे रहने की प्रवृत्ति रखती हैं या यहांतक कि वे बढ़ जाती हैं,–निःसंदेह, तुम्हें उनका निरीक्षण करना है, किंतु उनपर बल नहीं देना है, यह तो वे अपने लिये स्वयं सर्वथा पर्याप्त मात्रा में कर लेंगी। इसके विपरीत, यदि तुम अपना सारा बल श्रद्धा और अभीप्सा पर लगाते हो और जिस चीज की तुम अभीप्सा करते हो उसपर दृढ़तापूर्वक अपनी सारी शक्ति लगाते हो तो यही चीज जल्दी या देर में सिद्धि की ओर ले जाने में सहायक होगी। बल लगाने में यह परिवर्तन, अर्थात् मन की अवस्था और वृत्ति में परिवर्तन ही अधिक सहायक प्रक्रिया होगी।

–पत्रों से

५ . . . आत्मोपलब्धि

(मंत्र ६, ७)*

आत्मोपलब्धि

अध्यात्मतया देखें तो **ब्रह्म** है आत्मा, विश्व में जो कुछ भी है उस सबकी स्व-आत्मा या निर्विकार सत्ता। हमारे अंदर की ऐसी प्रत्येक वस्तु जो परिवर्तन होनेवाली है, मन, प्राण, शरीर, चरित्र, स्वभाव, क्रिया आदि ये हमारे यथार्थ और अपरिवर्तनशील 'स्व' (आत्मा) नहीं हैं, परन्तु गति, 'जगती', के अन्दर **आत्मा** के भूतभाव हैं।

इसलिये **प्रकृति** में सब वस्तुएं जिनका कि अस्तित्व है, सजीव या निर्जीव, वे 'सबकी एक **आत्मा**' के भूतभाव हैं। ये समस्त विभिन्न प्राणी एक अविभाज्य सत्ता हैं। यह है वह सत्य जिसे प्रत्येक सत्ता ने उपलब्ध करना है।

जब कि यह एकत्व-भाव किसी व्यक्ति द्वारा अपनी सत्ता के प्रत्येक भाग में उपलब्ध कर लिया जाता है तो वह व्यक्ति पूर्ण हो जाता है, पूर्ण, शुद्ध, अहंकार और द्वंद्वों से मुक्त, संपूर्ण दिव्य परमानन्द का प्राप्तकर्त्ता हो जाता है।

आत्मा, हमारा सच्चा 'स्व', **ब्रह्म** है। वह है विशुद्ध अविभाज्य **सत्ता**, स्वयं-प्रकाश, चेतना में स्वयं-प्रतिष्ठित, शक्ति में स्वयं-प्रतिष्ठ, स्वयमानन्द। इसकी सत्ता ही है प्रकाश और आनन्द। यह कालरहित, देशरहित और मुक्त है।

त्रिविध पुरुष†

आत्मा अपने आपको प्राणी की चेतना के प्रति तीन अवस्थाओं में प्रदर्शित करता है जो अवस्थाएं पुरुष और प्रकृति के बीच संबन्धों पर आश्रित होती हैं। ये तीन अवस्थाएं हैं (१) **अक्षर,** अचलायमान या अपरिवर्तनशील (२) **क्षर,** चलायमान या परिवर्तनशील (३) **पर** या **उत्तम,** परम या सर्वोच्च।

क्षर पुरुष वह **आत्मा** है जो प्रकृति के परिवर्तनों और गतियों को प्रतिबिम्बित करता है, उनमें भाग लेता है, गति की चेतना में निमग्न हुआ हुआ इसके अन्दर उत्पन्न होता तथा मरता, बढ़ता तथा घटता, प्रगति करता तथा बदलता प्रतीत होता है। **आत्मा,** क्षर रूप में, परिवर्तन को तथा विभाग को और द्वंद्वता को उपभोग करता है, अपने ही इन परिवर्तनों को गुप्त रूप से नियंत्रित करता है पर प्रतीत ऐसा होता है कि वह उन द्वारा नियंत्रित है; वह सुख और दुःख, अच्छा और बुरा आदि विरोधों का उपभोग करता है पर प्रतीत ऐसा होता है कि वह उनका शिकार है; वह **प्रकृति** की क्रिया को धारण

---

*६. परन्तु जो सब सत्ताओं को आत्मा में ही देखता है और सर्वत्र, सब सत्ताओं में आत्मा को, वह तब किसीसे घृणा नहीं करता।

७. जिसमें यह आत्मसत्ता ही है जो समस्त सत्ताओं के रूप में–जो भूतभाव हैं–हो गयी है, क्योंकि वह पूर्ण ज्ञान रखता है, वह कैसे मोहित होगा, उसे कहांसे शोक होगा, जो सर्वत्र एकत्व को देखता है?

†गीता १५–१६, १७ तथा देखो अध्याय १३ संपूर्ण।

करता और संभालता है यद्यपि वह इस द्वारा रचा गया प्रतीत होता है। कारण, **आत्मा** सदा और अपने अवियोज्य अधिकारपूर्वक ईश्वर है, ईश है।

अक्षर पुरुष वह **आत्मा** है जो प्रकृति के परिवर्तनों और गतियों से पीछे हटकर ठहरा हुआ है, शान्त, शुद्ध, निष्पक्ष, उदासीन, उनका साक्षी किन्तु उनमें भाग न लेनेवाला, उनसे ऊपर मानो शिखर पर, इन **जलों** में न निमग्न। यह शान्त **आत्मा** आकाश है जो स्वयं कभी हिलता या परिवर्तित नहीं होता हुआ नीचे इन जलों को, जो कभी स्थिर नहीं रहते, देखता रहता है। यह अक्षर क्षर की गुप्त स्वतन्त्रता है।

पर पुरुष या **पुरुषोत्तम** वह **आत्मा** है जो दोनोंको, गति को और स्थिरता को भी, धारण करता और भोगता है, पर इन दोनोंमेंसे किसीके द्वारा भी मर्यादित तथा सीमित नहीं होता। यह है **ईश, ब्रह्म, सर्व, अनिर्वचनीय** तथा **अज्ञेय**।

यही वह परम **आत्मा** है जिसे कि दोनोंमें, अचलायमान और परिवर्तनशील में, उपलब्ध करना है, सिद्ध करना है।

प्रकृति में पुरुष[1]

आत्मा प्रकृति की सप्तविध गति के अन्दर अपने आपको, किसी वैयक्तिक सत्ता में चेतना का जो प्रधान-तत्त्व है उसके अनुसार, विभिन्न प्रकार से प्रदर्शित करता है।

भौतिक चेतना में **आत्मा** स्थूल-दैहिक सत्ता 'अन्नमय पुरुष' बन जाता है।

प्राणमय या वातिक चेतना में **आत्मा** प्राणमय या गतिशील सत्ता 'प्राणमय पुरुष' बन जाता है।

मानसिक चेतना में **आत्मा** मानसिक सत्ता 'मनोमय पुरुष' बन जाता है।

पराबौद्धिक चेतना में, जो कि **सत्य** या कारण-**धी** (जिसे वेद में 'सत्य', 'ऋत', 'बृहत्' कहा गया है) के द्वारा शासित होती है, आत्मा धी-मय सत्ता या विशाल आत्मा 'विज्ञानमय पुरुष' या 'महान् आत्मा'[2] बन जाता है।

उस चेतना में जो कि विश्वगत **परमानन्द** की अपनी है, **आत्मा** सर्वानन्दपूर्ण सत्ता या सब कुछ उपभोग करनेवाला तथा सब कुछ उत्पन्न करनेवाला आत्मा 'आनन्दमय पुरुष' बन जाता है।

उस चेतना में जो कि असीम दिव्य आत्माभिज्ञता की अपनी है और जो कि साथ में असीम सर्वसाधिका **संकल्पशक्ति** (चित्-तपस्) भी है, **आत्मा** 'चैतन्य पुरुष' है, वह **आत्मा** है जो कि विश्व का उद्गम और ईश्वर है।

उस चेतना में जो कि शुद्ध, दिव्य अस्तित्व की अवस्था की अपनी है, **आत्मा** 'सत्-पुरुष' है, शुद्ध दिव्य आत्मा है।

मनुष्य, अपने सत्य **आत्मा** में समस्त आकारों में निवास करनेवाले **ईश** के साथ एक होने के कारण, इस जगत् में **आत्मा** की इन अवस्थाओं में से किसीमें भी रह सकता है और उस अवस्था की अनुभूतियों में भागीदार हो सकता है। वह भौतिक (अन्नमय) से लेकर आनन्दमय सत्ता तक अपने संकल्प के अनुसार जो भी चाहे वही हो सकता है। आनन्दमय के द्वारा वह 'चैतन्य पुरुष' और 'सत्-पुरुष' में भी प्रवेश कर सकता है।

सच्चिदानंद

सच्चिदानंद (सत्-चित्-आनन्द) उच्चतर पुरुष की अभिव्यक्ति है; इसकी असीमता, चेतना तथा शक्ति और आनन्द की प्रकृति उच्चतर **प्रकृति**, 'परा

---

[1] तैत्तिरीय उपनिषद् २–१ से ६।

[2] 'महत् आत्मा' का उल्लेख उपनिषद् में बहुत जगह आया है। इसे 'भूमा' भी कहा गया है।

प्रकृति' है। मन, प्राण और शरीर हैं निम्नतर प्रकृति, 'अपरा प्रकृति'।

सच्चिदानन्द की अवस्था विश्वमय सत्ता का उच्चतर अर्धभाग 'परार्ध' है, जिसका स्वभाव अमरता 'अमृतम्' है। स्थूल-भौतिक तत्त्व में मर्त्य सत्ता की अवस्था निम्नतर अर्धभाग, 'अपरार्ध' है, जिसका स्वभाव मरणशीलता 'मृत्यु' है।

शरीर में स्थित मन और प्राण **मृत्यु** की अवस्था में हैं क्योंकि वे **अज्ञान** के कारण **सच्चिदानंद** को उपलब्ध करने में असफल रहते हैं। पर सच्चिदानन्द को पूर्णतया उपलब्ध कर लेने पर वे अपने आपको बदल सकते हैं, रूपांतरित कर सकते हैं, **मन** को **सत्य** की, **विज्ञान** की प्रकृति में, **प्राण** को **चैतन्य** की प्रकृति में, शरीर को **सत्** की, अर्थात् शुद्ध मूल-तत्त्व की, प्रकृति में।

जब कि यह कार्य पूर्णतया शरीर में नहीं किया जा सकता तो आत्मा अपनी सत्य अवस्था को सत्ता के अन्य रूपों में या अन्य लोकों में, 'सूर्य-प्रकाशित' लोकों में तथा मोक्षसुख की अवस्थाओं में उपलब्ध करता है, और फिर स्थूल-भौतिक सत्ता में लौट आता है जिससे वह अपने विकास को शरीर में पूरा कर सके।

शरीर के अन्दर उत्तरोत्तर अधिकाधिक पूर्ण उपलब्धि, पूर्ण सिद्धि मानव-विकास का उद्देश्य है।

जीव के लिये यह भी संभव है कि वह एक अमर्यादित काल के लिये **सच्चिदानंद** की शुद्ध अवस्था में प्रतिनिवृत्त हो जाय।

आत्मा की **सच्चिदानंद** के रूप में उपलब्धि मानव अस्तित्व का उद्देश्य है।

आत्मोपलब्धि की अवस्था *

सच्चिदानंद सदा ही **आत्मा** की शुद्ध अवस्था है; वह या तो आत्मस्थ, मानो जगत् से पृथक्, रह सकता है या **ईश** के रूप में इसकी अध्यक्षता, इसका आलिंगन, इसको धारण कर सकता है।

वास्तव में, यह दोनों एक साथ करता है। (मंत्र ८)।

ईश इस विश्व में 'विराट् पुरुष' के रूप में, **जगदात्मा** (आठवें मंत्र का 'परिभूः', वह जो कि सर्वत्र हो रहा है) के रूप में व्याप्त है; **वह** गति में प्रत्येक पदार्थ के अन्दर प्रविष्ट है, ज्ञान के लिये उस ब्रह्म के तौर पर जो कि वैयक्तिक चेतना और वैयक्तिक रूप का आश्रय है, **अज्ञान** के लिये एक व्यक्तित्वापन्न और सीमित सत्ता के तौर पर। **वह** जीवधारी प्राणी के अन्दर **जीवात्मा** या वैयक्तिक आत्मा के तौर पर अभिव्यक्त होता है।

हमारी जो मृत्यु और ससीमता के राज्य में निम्नतर अवस्था है उसके दृष्टिकोण से देखें तो **आत्मा** वह **सच्चिदानंद** है जो मनोतीत है, पर जो मन में प्रतिबिम्बित होता है। यदि मन शुद्ध, उज्ज्वल और स्थिर है तो उसमें ठीक ठीक यथार्थ प्रतिबिम्ब पड़ता है; यदि यह मलिन, क्षुब्ध और धुंधला है तो प्रतिबिम्ब विकृत और अज्ञान की कुटिल क्रिया के अधीन तदनुसारी होता है।

प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेवाले मन की अवस्था के अनुसार हममें या तो आत्मज्ञान की विशुद्धता हो सकती है या सत्य-मिथ्या की द्वंद्वता के अन्दर ज्ञान की विकृति और तिमिराच्छन्नता; अहंकारहीन **संकल्प** की विशुद्ध क्रिया हो सकती है या अच्छे और बुरे

*इस तथा इसके पूर्ववर्ती शीर्षकों के नीचे मैंने **आत्मा** के संबन्ध में उपनिषदों के मुख्य मुख्य विचारों को एकत्र कर दिया है—चाहे वे हमारी इस उपनिषद् के मूल पाठ में प्रकट रूप में वर्णित या सूचित न हुए हों—क्योंकि वे इन पवित्र ग्रन्थों के पूर्ण तत्त्व-ज्ञान को समझने के लिये तथा इस ईशोपनिषद् में जिस विचार को विकसित किया गया है उसके संबन्धों के लिये आवश्यक हैं, अपरिहार्य हैं।

कर्म, पुण्य और पाप की द्वंद्वता में संकल्प की अस्पष्टता और विचलितता; परमानन्द की विशुद्ध अवस्था और अमिश्रित क्रीड़ा हो सकती है या अच्छे और बुरे उपभोग, सुख और दुःख, हर्ष और शोक की द्वंद्वता में आनन्द की अन्धता और कलुषितता।

यह मानसिक अहंभावना है जो, **आत्मा** के विभाजन और ससीमीकरण द्वारा, इस विकृतता को रचती है। ससीमता लायी जाती है **क्षर पुरुष** के, समस्त सत्ता के और सब सत्ताओं के साथ एकता की भावना को सर्वथा बहिष्कृत करके, पृथक् शरीर, वैयक्तिक प्राण तथा अहंतायुक्त मन में होनेवाली प्रकृति की परिवर्तनशील रचनाओं के साथ अपने आपको तदात्मा कर लेने से।

यह बहिष्करण गति में हमारे पिछले विकास के कारण बनी हुई समझने की एक स्थिर आदत है, न कि मानव-चेतना का कोई अनुल्लंघनीय नियम। इसका क्रमशः न्यूनीकरण और अंत में सर्वथा लय हो जाना आत्मोपलब्धि की अवस्था है।

विद्या का, सिद्धि का तथा मोक्षसुख-प्राप्ति का प्रारंभ है उस **एक**का दर्शन होना।

आत्मोपलब्धि की भूमियां

सर्व का दर्शन

आत्मोपलब्धि की पहिली गति है जगत् में अन्य सत्ताओं के साथ एकता की भावना। इसका प्रारंभिक या अपरिपक्व रूप है अन्यों को समझने या उनके साथ सहानुभूति करने का प्रयत्न, अन्यों के प्रति बढ़ते हुए प्रेम या करुणा या बंधुभाव रखने की प्रवृत्ति, अन्यों के निमित्त कार्य करने की प्रेरणा।

इस प्रकार उपलब्ध हुआ एकत्व एक बह्वात्मक एकता है, यह एक जैसी इकाइयों का एकत्र होकर अपेक्षाकृत एक प्रकार के संग्रह या संहित में परिणत होना है, न कि वास्तविक एकत्व में। उसमें चेतना के लिये **बहु** ही वास्तविक सत्ताओं के तौर पर रहता है, **एक** तो केवल उनका परिणाम होता है।

वास्तविक ज्ञान प्रारंभ होता है तात्त्विक एकत्व—एक **स्थूल तत्त्व,** एक **प्राण,** एक **मन,** एक **आत्मा** अनेक रूपों में खेलता हुआ—के बोध के साथ।

जब वस्तुओं की यह **आत्मा सच्चिदानंद** के रूप में देख ली जाती है तब ज्ञान पूर्ण हो जाता है। क्योंकि तब हम **स्थूल तत्त्व** को देखते हैं प्राण के एक खेल के रूप में, प्राण को मन के एक खेल के रूप में जो कि अपने-आपको वस्तु में शक्ति-संपन्न कर रहा है, **मन** को **सत्य** या कारण-**धी** के खेल के रूप में जो कि सत्ता के सत्य को सब संभव मानसिक आकृतियों में विविध प्रकार से प्रदर्शित कर रही है, **सत्य** को **सच्चिदानंद** के एक खेल के रूप में, सच्चिदानन्द को एक परम **अज्ञेय** की आत्माभिव्यक्ति, **परब्रह्म** या **परपुरुष** के रूप में।

सब देहों में स्थित आत्मा को हम इस तरह अनुभव करते हैं कि वह यही एक **आत्मा** या **सच्चिदानंद** है जो अपने-आपको इन वैयक्तिक चेतनाओं में बहुगुणित कर रहा है। सब मनों, प्राणों, देहों को हम इस रूप में भी देखते हैं कि ये उस आत्मा के विस्तारित अस्तित्व के अन्दर उसी सत्ता की सक्रिय रचनाएं, संभूतियां हैं।

यह है सब भूतों का आत्मा में और आत्मा का सब भूतों में दर्शन, जो कि पूर्ण आन्तरिक स्वातंत्र्य तथा पूर्ण आनन्द और शांति की आधारभित्ति है।

क्योंकि इस दर्शन के द्वारा, जिस अनुपात में यह तीव्रता में और परिपूर्णता में बढ़ता जाता है उसी अनुपात में, वैयक्तिक मनोवृत्ति में से सब जुगुप्सा दूर हो जाती है—जुगुप्सा अर्थात् सब अरुचि, हटाव, आकुंचन, नापसंदगी, भय, घृणा तथा भाव की अन्य विकृतियां जो कि विभाजन से तथा अन्य सत्ताओं के प्रति या चारों तरफ की बाह्य वास्तविक-

ताओं के प्रति हमारे व्यक्तिगत विरोध के कारण उत्पन्न होती हैं दूर हो जाती हैं। आत्मा की पूर्ण समता* स्थापित हो जाती है।

आत्मा का इसकी संभूतियों में दर्शन

दर्शन पर्याप्त नहीं है, हमें वह हो जाना (सं-भू) चाहिये जो कि हम अपने अन्दर देखते हैं। हमारा सब आन्तरिक जीवन इस प्रकार परिवर्तित हो जाना चाहिये जिससे कि वह सत्ता के सब-के-सब भागों में उसे पूर्णतया प्रतिरूपित कर सके जो कि बुद्धि द्वारा समझा गया है और आन्तरिक बोध द्वारा देखा गया है।

वैयक्तिक आत्मा के अन्दर,—जो आत्मा एकता के दर्शन के द्वारा ('एकत्वं अनुपश्यतः' सर्वत्र एकत्व को देखते हुए) अपने-आपको **सर्व** तक विस्तृत कर रहा है, जो अपने विचारों, भावों और संवेदनों को वस्तुओं के यथार्थ संबंध के उस पूर्ण ज्ञान ('विजानतः' पूर्ण ज्ञान रखते हुए) के अनुसार जो **सत्य** की उपलब्धि द्वारा आता है व्यवस्थित कर रहा है,—चेतना की वह दिव्य क्रिया अवश्य दोहरायी जानी चाहिये जिसके द्वारा एक सत्ता, शाश्वततया स्वयं-सत्, **अपने-आपमें** जगत् की बहुविधता को अभिव्यक्त करती है ('सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूत्' वह **आत्म-सत्ता** सब **भूतभाव** हो गयी)।

कहने का तात्पर्य यह हुआ कि जहां मानव या आहंकारिक जगत्-दृष्टि यह है कि यह जगत् ऐसे अगणित जुदा-जुदा प्राणियों का बना है जिनमेंसे प्रत्येक प्राणी स्वयं-सत् और दूसरेसे भिन्न है, प्रत्येक प्राणी दूसरेसे तथा जगत् से यथासंभव अधिक-से-अधिक लाभ उठाने को प्रयत्नशील है, वहां जगत् की दिव्य दृष्टि, वह दृष्टि जिससे कि **परमेश्वर** जगत् को देखता है, यह है कि वह **अपने-आप** ही, एकमात्र **सत्ता** के तौर पर, अगणित सत्ताओं के अन्दर जो कि वह स्वयं ही है, निवास करता हुआ, सबको सहारा देता हुआ, सबको विना पक्षपात के सहायता देता हुआ, एक दिव्य सिद्धि तक पहुंचाने के लिये और ऐसे प्रकारों के द्वारा जो कि आदिकाल से, अनन्त वर्षों से निश्चित किये जा चुके हैं **भूतभाव** के एक महान् प्रगतिशील सामंजस्य को जिसका कि अंतिम प्रकार **सच्चिदानंद** या **अमरत्व** है क्रियान्वित करता हुआ विद्यमान है। यह है **आत्मा** का दृष्टिबिन्दु जिसमें **वह ईश** के तौर पर संपूर्ण गति में निवास कर रहा है। वैयक्तिक आत्मा को मानव या आहंकारिक दृष्टि को बदलकर उसके स्थान में दिव्य, परम तथा विश्वमय दृष्टि को लाना है और फिर उस उपलब्धि में रहना है, उसे जीवनगत करना है।

इसलिये यह आवश्यक है कि 'सोऽहम्' (**वह** मैं हूं) के समीकरण-मंत्र द्वारा परात्पर **आत्मा,** एकमात्र एकता, का ज्ञान प्राप्त किया जाय और उस ज्ञान में रहकर अपनी सचेतन सत्ता को इतना विस्तृत किया जाय कि वह संपूर्ण **बहुता** को आलिंगन कर लेवे।

यह है ईशोपनिषद् का दोहरा या समन्वयात्मक आदर्श; एक ही साथ **विद्या** को भी और **अविद्या**

---

*वह अवस्था जिसे गीता में 'समत्व' करके वर्णित किया गया है। 'जुगुप्सा' वह विकर्षण का भाव है जो कि हमारी अपनी निजी सीमित आत्म-रचना और बाह्य के साथ हमारे संपर्कों के बीच सामंजस्य केअभाव के कारण उत्पन्न होता है और परिणामतः दुःख, भय, घृणा, बेचैनी, कष्ट के हटाव का जनक होता है। यह विरोधी भाव है आकर्षण का, जो कि इच्छा और आसक्ति का स्रोत होता है। विकर्षण और आकर्षण दूर हो जाते हैं तो हमें 'समत्व' प्राप्त हो जाता है।

को भी, **एक**को भी और **बहु** को भी, आलिंगन करना; जगत् में रहना, किंतु मृत्यु की स्थितियों को अमरता की स्थितियों में बदल देना; **संभूति** की सक्रियता के साथ-ही-साथ **असंभूति** की मुक्तता तथा शांति का रखना (मंत्र ९-१४)।

निम्न सत्ता के सब भागों को भी अवश्य चाहिये कि वे इस उपलब्धि, इस साक्षात्कार को अपनी अपनी सहमति, स्वीकृति देवें; बुद्धि द्वारा दर्शन होना पर्याप्त नहीं है। हृदय को चाहिये कि वह विश्वव्यापक प्रेम और आनन्द के रूप में स्वीकृति देवे, इन्द्रिय-मन को चाहिये कि वह **परमेश्वर** के तथा सर्वत्र स्थित आत्मा के संवेदन करने के रूप में, प्राण को चाहिये कि वह जगत् में जो कुछ भी ध्येय तथा शक्तियां हैं उन्हें अपनी ही निजी सत्ता के अंशों के तौर पर समझने के रूप में स्वीकृति देवे।

सक्रिय आनंद

यह उपलब्धि पूर्ण और समग्र **आनंद** है जिसमें आत्मा कर्म का आलिंगन करता है पर फिर भी शोक और आत्म-संमोह से मुक्त होता है।

वहां आत्म-संमोह ('मोहः') की कोई संभावना नहीं रहती, क्योंकि आत्मा, सब सत्तामात्र के पीछे विद्यमान उस अज्ञेय का दर्शन प्राप्त कर लेने के कारण, अब **संभूति** के प्रति आसक्त नहीं होता और जगत् की किसी भी वस्तुविशेष को इस प्रकार निरपेक्ष मूल्य प्रदान नहीं करता कि मानो वह अपने-आपमें ही कोई वस्तु है या अपने तौर पर ही वांछनीय, 'काम्य' है। सब कुछ उपभोग्य है और सबका मूल्य इस बात में है कि वह आत्मा की अभिव्यक्ति है और वह उस आत्मा के प्रयोजन के लिये है जो कि उसमें अभिव्यक्त हुआ है; अपने प्रयोजन के लिये कुछ नहीं।* इच्छा और भ्रम दूर हो जाते हैं, भ्रम के स्थान पर ज्ञान आ जाता है और इच्छा का स्थान सब कुछ प्राप्त हो जाने का सक्रिय आनन्द ले लेता है।

वहां शोक की कोई संभावना नहीं रहती, क्योंकि सब कुछ **सच्चिदानंद**-रूप—और इसलिये अनन्त सचेतन सत्ता, अनन्त संकल्प, अनन्त आनन्द के तौर पर—दिखायी देता है। यहांतक कि पीड़ा और दुःख भी आनन्द के ही विकृत रूप दिखायी देते हैं, और वह आनन्द जिसे कि वे (पीड़ा और दुःख) यहां आच्छादित किये हुए हैं और जिसके लिये कि वे निम्नतर सत्ता को तैयार (क्योंकि सब कष्ट सहना विकासक्रम के अन्दर बल और सुख की एक तैयारी ही है) करते हैं इस प्रकार मुक्त और पूर्ण हुए आत्मा द्वारा पहिले ही पकड़ा जा चुका, जाना जा चुका और उपभोग्य हो चुका होता है। कारण वह उस शाश्वत **वस्तु-सत्ता** को पाये हुए है जिसकी कि ये बाह्य प्रतीतियां हैं।

इस प्रकार यह संभव है कि, ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान के अन्दर **परमेश्वर** और विश्व ('ईश' और 'जगत्') की एकता की उपलब्धि द्वारा, शुद्ध **आत्मा** तथा असंभूति में ऊपर अपनी पहुंच करके इच्छा और भ्रम का सर्वथा त्याग कर दिया जा सके और फिर भी; अभिव्यक्ति में आयी सब वस्तुओं की साधनता द्वारा सब सत्ताओं में स्थित **सच्चिदानंद** के साथ एक मुक्त तथा प्रकाशयुक्त आत्म-तादात्म्य स्थापन करके विश्वगत **परमेश्वर** का उपभोग किया जा सके।

उपसंहार

तो, इस दूसरी विचार-धारा में हम ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र की व्याख्या पाते हैं। इस मंत्र का पूर्वार्ध, जिसमें प्रतिपादित किया गया है कि सब आत्माएं विश्व के प्रत्येक पदार्थ में निवास करनेवाला एक ईश हैं तथा प्रत्येक पदार्थ जगती के अन्दर

---

*बृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय ४, ब्राह्मण ५)।

एक जगत्, सामान्य गति के अन्दर एक गति है, इस प्रकार व्याख्यात हुआ है कि ब्रह्म के द्वारा पूर्ण एकत्व है, उस ब्रह्म के द्वारा जो परात्पर है, विश्वगत है और यहांतक कि व्यक्तिगत भी है, **बहु** में एक है, **एक** में बहु है, **अचलायमान** तथा **गतिशील** है, सब विरोधों का मेल मिलानेवाला है और उनसे परे है। मंत्र का उत्तरार्ध, जिसमें दिव्य जीवन के नियम के तौर पर निर्धारित किया गया है कि इच्छा का सार्वत्रिक त्याग आत्मा में सार्वत्रिक उपभोग पाने की शर्त्त है, इस प्रकार व्याख्यात हुआ है कि एक आत्मोपलब्धि हो जाने की अवस्था है जहां मुक्त तथा परात्पर **आत्मा** की अपनी निजी सच्ची सत्ता के तौर पर उपलब्धि होती है, और उस आत्मा की सच्चिदानन्द के तौर पर उपलब्धि; तथा विश्व उस समय **सच्चिदानंद** की **संभूति** के तौर पर दिखायी देता है और उसे तब यथार्थ **ज्ञान** की स्थितियों में अधिकृत किया जाता है न कि अज्ञान की स्थितियों में, जो (अज्ञान) सब आकर्षण और विकर्षण, मोह और शोक का कारण होता है।

श्रीअरविन्द के पत्र–

अन्तःपुरुष के तीन अनुभव

३

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हारे तीसरे अनुभव की व्याख्या स्थगित रखी थी। तुमने जिस चीज का अनुभव किया है वह निःसंदेह आत्मा का स्पर्श ही है, ऊर्ध्वस्थित अज आत्मा या उपनिषद्-वर्णित आत्मन् का नहीं,–क्योंकि उसका अनुभव तो भिन्न प्रकार से होता है, चिन्तनात्मक मन की निश्चलनीरवता द्वारा,–बल्कि अन्तःपुरुष का, आन्तर मनोमय, प्राणमय, अन्नमय पुरुष को धारण करनेवाले चैत्य पुरुष का जिसका कि मैं वर्णन कर चुका हूं। पूर्ण आत्मज्ञान के प्रत्येक जिज्ञासु के जीवन में ऐसी घड़ी अवश्य आती है जब कि उसे इस प्रकार का बोध होता है कि वह एक ही समय दो लोकों, दो चेतनाओं, एक ही सत्ता के दो भागों में निवास करता है। इस समय वह बाह्य चेतना, बाह्य सत्ता में रहता है और भीतर अन्तरात्मा को देखता है–परंतु वह अधिकाधिक अन्दर की ओर जायगा, यहांतक कि यह अवस्था पलट जायगी और वह भीतर इस नयी आन्तरिक चेतना, आन्तरिक आत्मा में निवास करने लगेगा तथा बाह्य चेतना को इस रूप में अनुभव करने लगेगा कि यह उपरितल की कोई चीज है जो स्थूल जगत् में आन्तर पुरुष के आत्म-प्रकाश के लिये साधनभूत व्यक्तित्व के तौर पर गठित है। तदनन्तर भीतर से एक परम शक्ति बाह्य व्यक्तित्व को सचेतन तथा सुनम्य यंत्र बनाने के लिये इसपर प्रभाव डालती है जिससे कि अंत में आन्तर और बाह्य घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। जिस दीवार का तुम्हें अनुभव होता है वह निश्चय ही अहं की दीवार है जिसका आधार है बाह्य व्यक्तित्व एवं उसकी चेष्टाओं के साथ स्व का आग्रहशील तादात्म्य। विस्तार, आत्म-ज्ञान, आध्यात्मिक स्वातंत्र्य में बाधा डालनेवाला यह तादात्म्य ही उस सीमा और बंधन की केन्द्रीय शिला

है जिससे कि वाह्य सत्ता दुःख भोगती है। परंतु फिर भी दीवार को समय से पूर्व कदापि नहीं ढाहना चाहिये क्योंकि संभवतः उसका परिणाम होगा दो पृथग्भूत लोकों की गतियों द्वारा किसी एक भाग (आन्तर या बाह्य) का ऐसे समय में विदारण या अस्तव्यस्तीकरण या उसपर आक्रमण जब कि वे लोक समस्वर होने के लिये अभी तैयार ही नहीं हुए। जब व्यक्ति को सत्ता के इन दो भागों का इस रूप में ज्ञान हो जाय कि ये दोनों एक साथ विद्यमान हैं उसके बाद भी थोड़े समय के लिये कुछ पार्थक्य आवश्यक है। योग की शक्ति को समय देना होगा ताकि वह आवश्यक सुव्यवस्थाओं और उद्घाटनों को संपादित करे, और सत्ता को अन्दर की ओर ले जाय और फिर इस अन्तर्मुख स्थिति से वाह्य प्रकृति पर प्रभाव डाल सके।

इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति चेतना को भीतर जाने ही न दे जिससे कि वह यथाशीघ्र सत्ता के आन्तरिक जगत् में निवास कर सके और वहांसे सब कुछ नयी दृष्टि से देख सके। यह अन्तर्मुख गति अत्यंत वांछनीय एवं आवश्यक है और वैसे ही दृष्टि का यह परिवर्तन भी। मेरा अभिप्राय केवल यह है कि सब कुछ स्वाभाविक गति से, जल्दी मचाये विना, किया जाना चाहिये। भीतर जाने की गति शीघ्र ही प्रारंभ हो सकती है, किन्तु उसके बाद भी अहंभाव की दीवार का कुछ भाग विद्यमान रहेगा ही और इसे स्थिरतापूर्वक एवं धैर्यपूर्वक भूमिसात् करना होगा यहांतक कि इसका एक भी पत्थर गड़ा न रहने पाय। मेरी जो यह चेतावनी है कि निद्रा-लोक को जाग्रत् अवस्था पर बलपूर्वक आक्रमण और अधिकार नहीं करने देना चाहिये वह यहींतक सीमित है और जाग्रत् (सजग) एकाग्रता या साधारण जाग्रत् चेतना में होनेवाली अन्तर्मुख गति की ओर संकेत नहीं करती। जाग्रत् गति हमें अन्ततः अन्तरात्मा में ले जाती है और उस अन्तरात्मा के द्वारा अतिभौतिक लोकों के साथ हमारा संबंध और उन विषयक हमारा ज्ञान बढ़ते हैं, किन्तु इस संबंध और ज्ञान के परिणामस्वरूप उन लोकों में अतिमात्र व्यस्तता या उनकी सत्ताओं तथा शक्तियों के प्रति अधीनता का होना आवश्यक नहीं है और नाहीं ऐसा होना चाहिये। निद्रा में हम सचमुच ही इन लोकों में प्रवेश करते हैं और, यदि निद्रा-चेतना का आकर्षण अतीव महान् हो और जाग्रत् चेतना पर बलपूर्वक अधिकार करे तो इस अतिमात्र व्यस्तता और प्रभाव-परवशता का भय है।

यह सर्वथा सत्य है कि आन्तरिक पवित्रता और सचाई, जिसमें कि व्यक्ति केवल उच्चतर पुकार से प्रेरित होता है, मध्यवर्ती अवस्था के प्रबल प्रलोभनों से बचने के लिये व्यक्ति का सर्वोत्तम रक्षासाधन है। यह व्यक्ति को सही मार्ग पर स्थिर रखता है और पथभ्रष्टता से बचाता है, तबतक जबतक कि चैत्य पुरुष पूर्णतया जागरित और पुरःस्थित नहीं हो जाता और, जब एक बार ऐसा हो जाता है तब आगे कोई भय नहीं रहता। यदि इस पवित्रता और सचाई के साथ साथ, विवेकशक्ति-युक्त विशद मन भी विद्यमान हो तो वह प्रारंभिक अवस्थाओं में सुरक्षा को और बढ़ाता है। मेरे विचार में प्रलोभन या आकर्षण के संभावित रूपों का, पूरे विस्तार से या ठीक ठीक, विशेष वर्णन करने की मुझे आवश्यकता नहीं किंवा मुझे ऐसा नहीं करना चाहिये। इन शक्तियों के प्रति ध्यान देकर, जिसकी कि शायद कोई जरूरत भी नहीं होती, इन्हें जगाया ही न जाय तो यह अधिक अच्छा होगा। मेरा ऐसा विचार नहीं कि तुम किसी एक बहुत बड़े भयसंकुल आकर्षण के कारण पथ से दूर हट सकते हो। जहांतक मध्यवर्त्ती अवस्था की छोटी-मोटी कठिनाइयों का प्रश्न है वे भयानक नहीं होतीं और वे आसानी से ठीक की जा सकती हैं जैसे जैसे व्यक्ति

चेतना के विकास, विवेक और असंदिग्ध अनुभव के सहारे अग्रसर होता है।

जैसा कि मैं कह चुका हूं, आन्तरिक आकर्षण, भीतर जाने के लिये आकर्षण, अवांछनीय नहीं और इसका प्रतिरोध करने की आवश्यकता नहीं। एक विशेष अवस्था में, ऐसी अन्तर्दृष्टि के विकास के कारण जो सत्ता के सभी स्तरों से संबंध रखनेवाली वस्तुओं को देखती है, यह आकर्षण अलौकिक साक्षात्कारों की प्रचुरता से युक्त हो सकता है। यह एक अमूल्य शक्ति है जो साधना में सहायक होती है और इसे दबाना नहीं चाहिये। परंतु आन्तरिक आत्मा और भगवान् के साक्षात्काररूपी मुख्य लक्ष्य को सदा समक्ष रखते हुए व्यक्ति को आसक्ति के बिना अवलोकन एवं निरीक्षण करना चाहिये—इन चीजों को केवल ऐसा समझना चाहिये कि ये चेतना की वृद्धि में प्रासंगिक हैं और उसमें सहायक हैं, ऐसा नहीं कि ये अपने आपमें अपनी ही खातिर अनुसरणीय लक्ष्य हैं। अपिच, व्यक्ति को ऐसे विवेकशील मन की भी आवश्यकता है जो प्रत्येक वस्तु को उसके अपने अपने स्थान पर सन्निविष्ट करे और उसके क्षेत्र तथा उसकी प्रकृति को समझने के लिये प्रतीक्षा कर सके। ऐसे भी कुछ लोग होते हैं जो इन सहायक अनुभवों के लिये इतने उत्सुक हो जाते हैं कि वे सद्वस्तु के विभिन्न क्षेत्रों के वास्तविक तारतम्य और सीमा के समस्त बोध को भी खोने लगते हैं। इन अनुभवों में जो कुछ भी घटित होता है वह सब सत्य नहीं समझ लेना चाहिये—व्यक्ति को विवेक करने की आवश्यकता होती है, यह देखना होता है कि कौनसी चीज मानसिक आकृति या आन्तरिक रचना है और कौनसी चीज सत्य है, कौनसी चीज ऐसी है जो विस्तीर्णतर मनोमय और प्राणमय स्तरों से प्राप्त निर्देश मात्र है अथवा किस चीज का केवल वहीं वास्तविक अस्तित्व है और किस चीज का आन्तरिक साधना या बाह्य जीवन में सहायता या पथप्रदर्शन के लिये महत्त्व है।

१६-४-१९३७

कृतज्ञता के लिये अभीप्सा करो—कृतज्ञता के बिना मन पवित्र नहीं हो सकता।

*

सत्ता में सर्वांगीण निश्चलनीरवता का साक्षात् अनुभव करो तथा इस निश्चलनीरवता में श्रद्धा के पूर्ण बल का; तभी शक्ति अवतीर्ण हो सकती तथा भूतल की वस्तुओं पर प्रभुत्व प्राप्त करा सकती है।

*

शान्तिपूर्ण प्राणमय सत्ता में स्थिरतया प्रतिष्ठित एवं सरल सत्यहृदयता से विभूषित अभीप्सा तथा श्रद्धामय भक्ति ये दोनों उपलब्धि के प्रारंभ के लिये अत्यंत आवश्यक अवस्थाओं में से हैं।

*

केवल उन्हें जिनमें कि सच्ची नम्रता है शक्ति प्रदान की जायगी।

श्रीअरविन्द का योग-समन्वय–

कर्मयोग — आचार के मानदण्ड और आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य

सातवां अध्याय

जिस ज्ञान पर कर्मयोगी को अपने समस्त कर्म और विकास की नींव रखनी होती है उसके भवन की मुख्य शिला है एकता का अधिकाधिक प्रत्यक्ष अनुभव, सर्वव्यापी एकत्व का जीता-जागता बोध; कर्मयोगी जिस वर्धमान चेतना में रहता-सहता है वह यह है कि संपूर्ण सत्ता अविभाज्य समष्टि है। अब उसका वैयक्तिक कर्म तथा कर्म के परिणाम पहले की तरह कोई ऐसी पृथक् गति नहीं हो सकते या नहीं प्रतीत हो सकते जो समष्टि में स्वयं पृथग्-भूत व्यष्टि की अहंभावमयी "स्वतंत्र" इच्छा से मुख्यतया या पूर्णतया निर्धारित हो। हमारे कर्म अविभाज्य वैश्व कर्म का भाग हैं। वह विश्वकर्म अपनी विराट् समग्रता में तथा प्रत्येक छोटी छोटी क्रिया में उस एकमेव की अखण्ड गति है जो विश्व में अपने आपको उत्तरोत्तर अभिव्यक्त करता है। जैसे हम स्वयं एक ऐसी विश्वमयता में से प्रादुर्भूत हुए हैं जिससे कि हम अनभिज्ञ हैं वैसे ही हमारा कर्म भी उसीमेंसे उत्पन्न होता है; हम इसे अपने वैयक्तिक स्वभाव से, व्यक्तिगत विचारात्मक मन या संकल्प से अथवा आवेग या कामना की शक्ति से आकार दे देते हैं; किन्तु वस्तुओं का वास्तविक सत्य, कर्म का यथार्थ नियम इन वैयक्तिक तथा मानवीय रच-नाओं को अतिक्रान्त कर जाता है।

जब हम इस विचार की कुछ झांकी प्राप्त कर चुकते हैं अथवा इसे अपनी चेतना में इस रूप में गड़ा लेने में सफल हो चुकते हैं कि यह मन का ज्ञान है एवं परिणामभूत अन्तरात्म-वृत्ति है, तब भी अपने बाह्य अंगों में तथा क्रियाशील प्रकृति में हमारे लिये यह कठिन होता है कि हम इस सार्वभौम दृष्टिबिन्दु का अपनी वैयक्तिक सम्मति, अपनी वैयक्तिक इच्छा-शक्ति, अपने वैयक्तिक भाव व कामना की मांगों के साथ मेल बैठावें। हम अब भी इस अखण्ड गति के साथ इस प्रकार बरतते चले जाने के लिये बाधित किये जाते हैं मानो कि यह निर्वैय-क्तिक साधन-सामग्री का एक ऐसा पुंज हो जिसमेंसे कि हमें, अहं को, व्यक्ति को, अपनी ही इच्छा-शक्ति तथा मन की मौज के अनुसार निजी संघर्ष एवं प्रयत्न से कुछ गढ़ डालना है। अपनी परि-स्थिति के प्रति मनुष्य की साधारण वृत्ति यही है, पर वास्तव में है यह मिथ्या क्योंकि हमारी 'मैं' और उसकी इच्छा-शक्ति वैश्वशक्तियों की रचनाएं एवं कठपुतलियां हैं और जब हम अहं से पीछे हटकर उस सनातन देव के दिव्य ज्ञान-संकल्प की चेतना में भीतर लौटते हैं जो इन शक्तियों में कार्य करता है तभी हम ऊर्ध्वलोक से एक तरह प्रतिनिधिरूप में नियुक्त होकर इनके स्वामी बन सकते हैं। परंतु दूसरी तरफ यह वैयक्तिक स्थिति मनुष्य के लिये यथार्थ वृत्ति है तबतक जबतक कि वह अपने व्यक्ति-त्व को प्रेम से पोसता है और अभीतक उसे पूरी तरह से विकसित नहीं कर पाया है; क्योंकि इस दृष्टिबिन्दु तथा प्रेरक-बल के बिना वह अपने अहं में बढ़ नहीं सकता, अवचेतन या अर्ध-चेतन विश्वमय समष्टि-

सत्ता में से अपने आपको पर्याप्ततया विकसित तथा विशिष्ट नहीं बना सकता।

परंतु जीवन-यापन के हमारे संपूर्ण अभ्यास पर इस अहं-चेतना का जो प्रभुत्व है उसे दूर करना कठिन होता है जब कि हमें विकास की पृथक्कारक, व्यक्ति-प्रधान एवं उग्र अवस्था की पूर्ववत् आवश्यकता नहीं रहती। न केवल अपनी विचार-शैली में अपितु अनुभव, संवेदन और कर्म करने के अपने तरीके में हमारे लिये यह स्पष्टतया समझ लेना अनिवार्य है कि यह गति, यह वैश्व कर्म सत्ता की कोई ऐसी असहाय निर्वैयक्तिक तरंग नहीं जो कि किसी अहं के बल व आग्रह के अनुसार उस अहं की इच्छा-शक्ति का साथ देती हो। यह उस वैश्व पुरुष की गति है जो अपने क्षेत्र का ज्ञाता है, उस ईश्वर के कदम हैं जो अपनी विकासशील कर्म-शक्ति का स्वामी है।

तो फिर व्यक्ति-रूपी कर्मी की आध्यात्मिक स्थिति क्या होगी? सक्रिय विश्वप्रकृति में इस एक विश्वमय पुरुष तथा इस एक समग्र गति के साथ उसका सत्य संबंध क्या है? वह केवल केन्द्र है–एक ही वैयक्तिक चेतना के विभेदन का केन्द्र, एक ही अखण्ड गति के निर्धारण का केन्द्र। उसका व्यक्तिभाव दृढ़ाग्रही व्यक्तित्व की तरंग में एकमेव विश्वव्यापी व्यक्ति को, परात्पर व सनातन पुरुष को प्रतिबिम्बित करता है। अविद्या में यह सदा ही भग्न एवं विरूप प्रतिबिम्ब होता है क्योंकि तरंग का सिरा जो कि हमारी चेतन जाग्रत् आत्मा है दिव्य आत्मसत्ता के अपूर्ण तथा मिथ्याभूत सादृश्य मात्र को प्रतिक्षिप्त करता है।

भागवत संकल्प न केवल विश्व की एकता में, न केवल जीवधारी तथा विचारशाली प्राणियों की समष्टि में, अपितु प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में अपने दिव्य रहस्य के किंचित् अंश को तथा अनन्त के निगूढ़ सत्य को उत्तरोत्तर आविर्भूत करने के लिये युग-युगान्तर में कार्य करता है। अतएव विश्व में, समष्टि में, व्यष्टि में अपनी पूर्णता की संभावना के सबंध में बद्धमूल सहज-ज्ञान किंवा विश्वास है, एक सतत प्रवृत्ति है निरन्तर वृद्धिशील तथा अधिक पर्याप्ति एवं अधिक समस्वर आत्म-विकास के लिये जो विकास कि वस्तुओं के गुप्त सत्य के निकट-तर हो। यह प्रवृत्ति वा प्रयत्न मनुष्य के रचना-कारी मन के समक्ष ज्ञान, वेदन, चरित्र, सौन्दर्यबोध और कर्म के मानदण्डों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है,–ऐसे नियमों, आदर्शों, सूत्रों एवं सिद्धान्तों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जिन्हें कि मनुष्य सार्वभौम नियमों के रूप में परिणत करने का प्रयत्न करता है।

*

यदि हमें आत्मसत्ता में स्वतंत्र होना है, यदि हमें केवल परम सत्य के अधीन रहना है, तो हमें इस विचार को तिलांजलि दे देनी होगी कि अनंत हमारे मानसिक या नैतिक नियमों से बंधा हुआ है अथवा यह कि आचार के हमारे ऊंचे से ऊंचे वर्तमान मानदण्डों में भी अनुल्लंघनीय, पूर्ण या नित्य कोई वस्तु हो सकती है। अधिकाधिक ऊंचे अस्थायी मानदण्डों का निर्माण जबतक कि उनकी आवश्यकता है, भगवान् की विश्वविकास-यात्रा में उनकी सेवा है; पूर्णनिरपेक्ष मानदण्ड की कठोर स्थापना सनातन स्रोत के प्रवाह-पथ में बाधा खड़ी करने का प्रयत्न है। प्रकृति-बद्ध आत्मा जब एक बार इस सत्य को अनुभव कर लेती है तब वह शुभाशुभ के द्वन्द्व से मुक्त हो जाती है। क्योंकि जो कुछ भी व्यक्ति और विश्व को उनकी दिव्य परि-पूर्णता के लिये सहायता देता है वह सब है शुभ, और जो कुछ उस वर्धमान पूर्णता को रोकता या भंग करता है वह सब है अशुभ। परंतु क्योंकि पूर्णता काल में प्रगतिशील, विकासशील है, अतः शुभ और अशुभ भी परिवर्तनशील वस्तुएं हैं तथा अपने अर्थ व मल्य को समय-समय पर बदलती रहती हैं।

जो लोग केवल कठोर मानदण्ड के अनुसार कार्य कर सकते हैं, जो लोग केवल मानवीय मूल्यों को अनुभव कर सकते हैं, दिव्य मूल्यों को नहीं, उन्हें यह सत्य संभवतः एक ऐसी भयानक रिआयत प्रतीत होगा जो नैतिकता के आधार तक को नष्ट, आचार मात्र को अव्यवस्थित तथा केवल संकर को स्थापित कर सकती है। निःसंदेह, यदि चुनाव नित्य एवं अपरिवर्तनशील नैतिकता किंवा नैतिकता के नितान्त अभाव के बीच हो, तो अपनी अविद्या की अवस्था में विद्यमान मनुष्य के लिये इसका यही परिणाम होगा। परंतु मानवीय स्तर पर भी, यदि हममें इतनी पर्याप्त ज्योति एवं पर्याप्त नमनशीलता हो जिनसे कि हम यह पहचान पावें कि आचार का कोई मानदण्ड अस्थायी होता हुआ भी अपने समय तक के लिये आवश्यक हो सकता है और यदि हम उसका तबतक सचाई के साथ पालन कर सकें जबतक कि उसके स्थान पर उससे श्रेष्ठ मानदण्ड को प्रतिष्ठित न कर पावें, तो हम ऐसी कोई हानि नहीं उठाते, बल्कि अपूर्ण तथा असहिष्णु सद्गुण की कट्टरता मात्र को खो देते हैं।

इस प्रकार, यह बात हमारे लिये दृढ़तया निर्णीत हो जाती है कि जिन किन्हीं भी मानदण्डों से हम अपने आचार का नियमन करना चाहें वे सभी केवल हमारे अस्थायी, अपूर्ण एवं विकासशील प्रयत्न होते हैं; इन प्रयत्नों का प्रयोजन यह होता है कि जिस विराट् आत्म-चरितार्थता की ओर विश्वप्रकृति बढ़ रही है उसमें अपनी लड़खड़ाती मानसिक प्रगति को हम अपने प्रति प्रदर्शित कर सकें। परंतु दिव्य अभिव्यक्ति हमारे क्षुद्र नियमों तथा भंगुर पुण्य-भावनाओं से आबद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि इसके मूल में जो चेतना है वह इन वस्तुओं की तुलना में अतीव बृहत् है। यदि एक बार हम इस तथ्य को, जो हमारी तर्कशक्ति के स्वेच्छाचारी राज्य के लिये काफी क्षोभजनक है, समझ जायं, तो हम मनुष्यजाति की वैयक्तिक तथा सामूहिक यात्रा की प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं को नियंत्रित करने-वाले क्रमिक मानदण्डों को पारस्परिक संबंध की दृष्टि से उनके समुचित स्थान पर रखने में अधिक अच्छी तरह समर्थ होंगे।

*

मानवीय आचार के चार मुख्य मानदण्ड हैं जो एक चढ़ती शृंखला का निर्माण करते हैं। प्रथम है वैयक्तिक आवश्यकता, अभिरुचि एवं कामना; द्वितीय है समष्टि का नियम व हित; तृतीय है आदर्श नैतिक नियम; अन्तिम है प्रकृति का सर्वोच्च दिव्य नियम।

मनुष्य इन चार में से पहले दो को ही अपने ज्ञानोद्दीपक और मार्गदर्शक के रूप में संग लेकर अपने जीवन-विकास की सुदीर्घ यात्रा प्रारंभ करता है; क्योंकि ये दोनों उसकी पाशविक व प्राणिक सत्ता के नियम हैं, और प्राणप्रधान तथा देहप्रधान पशुवृत्ति मनुष्य के तौर पर ही वह अपना विकास प्रारंभ करता है। इस भूतल पर मनुष्य का असली काज है भगवान् की वर्धमान प्रतिमूर्त्ति को मानवता के नमूने में अभिव्यक्त करना; सचेत रूप में हो या अचेत रूप में, इसी लक्ष्य के लिये विश्वप्रकृति अपनी बाह्य तथा आन्तर प्रक्रियाओं के घने पर्दे की आड़ में उसके अन्दर कार्य कर रही है।

भारतीय दर्शन के शब्दों में, भगवान् अपने आपको सदा ही व्यष्टि तथा समष्टि के द्विविध रूप में प्रकट करते हैं। मनुष्य, अपने पृथक् व्यक्तित्व तथा उसकी पूर्णता एवं स्वतंत्रता की वृद्धि के लिये बल लगाता हुआ, अपनी वैयक्तिक आवश्यकताओं व कामनाओं को भी पूरा करने में तबतक असमर्थ रहता है जबतक कि वह अन्य मनुष्यों के साथ मिल-करके बल नहीं लगाता; वह अपने आपमें पूर्ण है और फिर भी दूसरोंके बिना अधूरा है।

यह देखने में अधिक व्यापक तथा प्रभुत्वपूर्ण सिद्धान्त, अपने आपमें, उस प्राणिक तथा शारीरिक

तत्त्व के विस्तार से अधिक कुछ नहीं जो कि व्यष्टि-रूप प्राथमिक मनुष्य को संचालित करता है; यह गण या यूथ का नियम है। व्यक्ति अपने जीवन को कुछ एक अन्य व्यक्तियों के जीवन के साथ, जिनसे कि वह जन्म, अभिरुचि या परिस्थिति के कारण संबद्ध होता है, कुछ हद तक एकीभूत कर लेता है। वैयक्तिक विचार व भाव, आवश्यकता व कामना, प्रवृत्ति व प्रकृति की तृप्ति को, परि-स्थितिवश न कि किसी नैतिक या परार्थवादात्मक प्रेरकभाव के कारण, इस या उस अन्य व्यक्ति वा व्यक्तिसमूह के नहीं बल्कि समूचे समाज के विचारों व भावों, आवश्यकताओं व कामनाओं, प्रवृत्तियों व प्रकृतियों की तृप्ति के निरन्तर अधीन करना होता है। समाज की आवश्यकता नैतिकता का तथा मनुष्य के सदाचारसंबंधी आवेग का गुप्त मूल है।

मनुष्य में दो विस्पष्ट प्रभुत्वशाली आवेग हैं, व्यक्तिप्रधान तथा संघप्रधान, वैयक्तिक जीवन तथा सामाजिक जीवन, आचार का वैयक्तिक प्रेरक-भाव तथा आचार का सामाजिक प्रेरक-भाव। इनमें विरोध की संभावना तथा इनमें साम्य को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न मानव सभ्यता का वास्त-विक मूल हैं तथा ये अन्य रूपों में तब भी कायम रहते हैं जब कि वह प्राणिक शारीरिक उन्नति को अतिक्रान्त कर उच्चतया व्यष्टिभावापन्न मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास-क्रम में पहुंच जाता है।

व्यक्ति से बहिःस्थित सामाजिक नियम का अस्तित्व भिन्न-भिन्न समय पर मनुष्यवर्तिनी दिव्य-ता के विकास में पर्याप्त लाभकारक व हानिप्रद होता है। प्रारंभ में जब कि मनुष्य असंस्कृत एवं आत्मसंयम व आत्मोपलब्धि में अशक्त होता है तब यह लाभदायक होता है, क्योंकि यह उसके वैयक्तिक अहंभाव की शक्ति से इतर किसी शक्ति को खड़ा करता है जिसके द्वारा वह अहंभाव अपनी भीषण मांगों को संयत करने, अपनी अयुक्तियुक्त एवं प्रायः उग्र चेष्टाओं को नियंत्रित करने और अधिक विस्तृत एवं कम व्यक्तिगत अहंभाव में अपने आपको कभी-कभी विलीन तक कर देने के लिये प्रेरित वा बाधित किया जा सकता है। मानवीय सूत्र का अतिक्रमण करने को उद्यत परिपक्व आत्मा के लिये यह हानिकर होता है क्योंकि यह बाह्य मानदण्ड है जो अपने आपको बाहर से उस आत्मा पर लादने की चेष्टा करता है।

*

समाज के अधिकारों और व्यक्ति के अधिकारों के बीच संघर्ष में दो आदर्श तथा चरम समाधान एक दूसरेके सम्मुख उपस्थित होते हैं। समष्टि की मांग यह है कि व्यष्टि को अपने आपको न्यूना-धिक पूर्णता के साथ समाज के वशीभूत अथवा अपनी स्वतंत्र सत्ता को समाज में विलीन तक कर देना चाहिये। व्यक्ति के दृष्टिकोण से आदर्श एवं चरम समाधान होगा एक इस प्रकार का समाज जो अपने लिये या अपने सर्वातिशायी सामूहिक उद्देश्य के लिये अस्तित्व न रखता हो बल्कि व्यक्ति के हित तथा उसकी परिपूर्णता के लिये, अपने सभी सदस्यों के महत्तर एवं पूर्णतर जीवन के लिये।

आदिम समाजों में वैयक्तिक जीवन कठोर एवं अपरिवर्तनशील सांघिक रीति-रिवाज व नियम के अधीन पाया जाता है; यह है मानवी समुदाय का प्राचीन तथा भावी नित्य नियम जो अविनाशी देव के सनातन आदेश (एष धर्मः सनातनः) का वेष धारण करने का सदा यत्न करता है। और वह आदर्श मानव मन से मिटा नहीं है; मानव प्रगति की अत्यंत अभिनव दिशा है मानव आत्मा को दास बनाने के लिये सामूहिक जीवन की इस प्राचीन प्रवृत्ति के परिवर्द्धित एवं बहुमूल्य संस्करण को प्रचलित करने की। इसमें भूतल पर महत्तर सत्य तथा महत्तर जीवन के सर्वांगीण विकास को भीषण भय है। क्योंकि व्यक्ति की कामनाएं एवं स्वतंत्र

अन्वेषणाएं चाहे कैसी भी अहंकारमय क्यों न हों, अपने वर्तमान रूप में चाहे वे कैसी भी मिथ्या या विकृत क्यों न हों, फिर भी उनके प्रच्छन्न अणुओं में विकास का एक ऐसा बीज निहित है जो समष्टि के लिये आवश्यक है; उसके अनुसंधानों और स्खलनों के मूल में एक शक्ति होती है जिसे सुरक्षित रखना तथा दिव्य आदर्श की प्रतिमूर्त्ति में रूपान्तरित करना होता है।

चरम पूर्णता के लिये व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि समष्टि-भावना के मूल में निहित शक्ति की; व्यक्ति का गला घोंटना सहज ही मनुष्यवर्ती ईश्वर का गला घोंटने के समान हो सकता है। अपिच मानवता के वर्तमान संतुलन में इस प्रकार का कोई वास्तविक भय कदाचित् ही है कि अतिशयित व्यक्तिस्वातंत्र्य-वाद सामाजिक अखण्ड सत्ता को विभक्त कर डालेगा। पर इस बात की निरन्तर आशंका है कि कहीं समाजरूपी समुदाय का अतिमात्र दबाव अपने भारी अप्रकाशयुक्त यंत्रसम बोझ से व्यक्तिगत आत्मा के स्वतंत्र विकास को दबा न डाले या अनुचिततया निरुत्साहित न कर दे। क्योंकि व्यष्टिगत मनुष्य अपेक्षाकृत सुगमता से प्रकाशयुक्त, सचेतन, स्पष्ट प्रभावों के प्रति उन्मीलित किया जा सकता है; समष्टिगत मनुष्य अबतक भी अंधकार-युक्त, अर्ध-चेतन तथा उन वैश्व शक्तियों से शासित है जो उसके वश तथा उसके ज्ञान के बाहर हैं।

वह प्राकृतिक वैयक्तिक नियम जो हमारी व्यक्तिगत आवश्यकताओं, अभिरुचियों तथा कामनाओं की पूर्त्ति को आचार के हमारे एकमात्र मानदण्ड के रूप में स्थापित करता है और वह प्राकृतिक सांघिक नियम जो समूचे समाज की आवश्यकताओं, अभिरुचियों व कामनाओं की पूर्त्ति को उत्कृष्टतर मानदण्ड के रूप में प्रतिष्ठित करता है—इन दोनों-के ऊपर एक ऐसे आदर्श नैतिक नियम की धारणा को जन्म लेना ही था जो आवश्यकता व कामना की पूर्त्ति-रूप नहीं है, बल्कि उन्हें एक आदर्श व्यवस्था के हित नियंत्रित करता है और यहांतक कि उन्हें बलपूर्वक दबाता वा विनष्ट करता है, ऐसी व्यवस्था के हित जो पाशव नहीं, प्राणिक व शारीरिक नहीं, वरन् मानसिक है, जो प्रकाश व ज्ञान तथा यथार्थ प्रभुत्व व यथार्थ गति एवं सत्य व्यवस्था के लिये मन की खोज की उपज है। जिस क्षण यह धारणा मनुष्य में बलवती बन जाती है, तभीसे वह पूर्ण-ग्रस्त करनेवाले प्राणिक तथा शारीरिक जीवन को त्यागकर मानसिक जीवन में प्रवेश करने लगता है; वह विश्वप्रकृति के त्रिविध आरोहण के प्रथम सोपान से द्वितीय पर आरोहण करता है। उसकी आवश्यकताएं व इच्छाएं भी अपने प्रयोजन के उच्चतर प्रकाश से किंचित् प्रभावित हो जाती हैं और मानसिक आवश्यकता, तथा सौन्दर्यभावनात्मक, बौद्धिक व भावमय कामना, भौतिक तथा प्राणिक प्रकृति की मांग के ऊपर प्रभुत्व करने लगती हैं।

आचार का प्राकृतिक नियम शक्तियों, अन्तः-प्रवृत्तियों तथा कामनाओं के संघर्ष से इनके संतुलन की ओर गति करता है; उच्चतर नैतिक नियम, मानसिक तथा नैतिक प्रकृति के विकास के द्वारा, स्थिर अन्तरीय मानदण्ड की ओर अथवा पूर्ण गुणों के अर्थात् न्याय, सत्य, प्रेम, यथार्थ तर्क, यथार्थ सामर्थ्य, सौन्दर्य, प्रकाश के स्व-रचित आदर्श की ओर बढ़ता है। अतएव यह मूलतः वैयक्तिक मानदण्ड है; यह समष्टि-मन की रचना नहीं। विचारक व्यक्ति है; जो वस्तु अन्यथा रूप-रहित मानवीय समष्टि में अवचेतन पड़ी रहती उसे निकाल लाने तथा आकार देनेवाला भी वही है। नैतिक प्रयासी भी व्यक्ति है; बाह्य नियम के जूए तले आकर नहीं, प्रत्युत आभ्यन्तर प्रकाश के आदेशानुसार, आत्म-शासन भी मूलतः वैयक्तिक प्रयत्न है। परंतु अपने वैयक्तिक मानदण्ड को

चरम नैतिक आदर्श के प्रतिरूप के तौर पर स्थापित करके विचारक इसे, केवल अपनेपर नहीं, अपितु उन सब व्यक्तियों पर जिनतक कि उसका विचार पहुंच तथा पैठ सकता है, लादता है। और जैसे-जैसे बहुसंख्यक लोग इसे विचार में अधिकाधिक स्वीकार करने लगते हैं, चाहे अभी आचरण में या तो सर्वथा नहीं या केवल अपूर्ण आचरण में, वैसे-वैसे समाज भी नयी स्थिति का अनुसरण करने के लिये बाधित किया जाता है। वह विचारात्मक प्रभाव को आत्मसात् करता है तथा अपनी संस्थाओं को इन उच्चतर आदर्शों से ईषत् प्रभावित नये रूपों में, किसी विशेष आश्चर्यजनक सफलता के साथ तो नहीं, ढाल देने का यत्न करता है। परंतु सदा ही इसकी सहजप्रवृत्ति इन्हें अनुल्लंघनीय नियम के रूप में, आदर्श आकृतियों के रूप में, यांत्रिक रीति-रिवाज के रूप में, अपनी सजीव इकाइयों पर बाह्य सामाजिक बलात्कार के रूप में परिणत कर देने की होती है।

कारण, जब व्यक्ति अंशतः स्वतंत्र हो चुकता है, एक ऐसा नैतिक अवयवी बन चुकता है जो सचेतन विकास के योग्य, अन्तर्मुख जीवन से सज्ञान, आध्यात्मिक उन्नति के लिये उत्सुक हो, उसके बाद भी चिरकाल तक समाज अपनी परिपाटियों में बाह्य बना रहता है, एक ऐसा भौतिक तथा आर्थिक संगठन बना रहता है जो यांत्रिक होता है, वह उन्नति तथा आत्मपूर्णता की अपेक्षा स्थिति तथा स्वरक्षा की ओर अधिक दत्तचित्त रहता है। व्यक्ति ने अपने विचार-संकल्प से समाज को इस बात के लिये बाधित करने की जो शक्ति अधिगत की है कि वह भी सोचे, सामाजिक न्याय तथा सत्याचरण, सांघिक सहानुभूति व पारस्परिक करुणा के विचार के प्रति अपने आपको खोले, अपनी संस्थाओं की कसौटी के रूप में अंध प्रथा की अपेक्षा कहीं अधिक तर्क-बुद्धि के नियम को खोजे और अपने सदस्यों की मानसिक तथा नैतिक सहमति को अपने नियमों की सबलता का कम से कम एक मुख्य तत्त्व समझे—यह शक्ति स्वभावप्रेरित तथा स्थितिशील समाज पर विचारशील एवं प्रगतिशील व्यक्ति की बड़ी भारी वर्तमान विजय हुई है।

परंतु यह जो सफलता उसने प्राप्त की है वह भी वास्तविक सफलता होने की अपेक्षा कहीं अधिक बीजरूप वस्तु है। व्यक्ति में निहित नैतिक नियम तथा उसकी आवश्यकताओं व कामनाओं के नियम के बीच, समाज के समक्ष प्रस्तुत नैतिक नियम तथा जाति, कुल, धार्मिक संघ, समाज, राष्ट्र की भौतिक तथा प्राणिक आवश्यकताओं, कामनाओं, रीति-रिवाजों, पक्षपातों, स्वार्थों एवं आदर्शों के बीच सदैव असामंजस्य तथा वैषम्य होता है। नैतिकतावादी वृथा ही अपने चरम सदाचारसंबंधी मानदण्ड को उत्तोलित करता है तथा सबसे यह अनुरोध करता है कि वे परिणामों का विचार किये बिना इसके प्रति स्थिरनिष्ठ रहें।

उत्कट क्षणों को छोड़कर और किसी समय कोई भी व्यक्ति इन ऊंचाइयों तक नहीं उठता, आज तक उत्पन्न कोई भी समाज इस आदर्श को पूर्ण नहीं करता। अथच नैतिकता की तथा मानव विकास की वर्तमान दशा में संभवतः कोई भी इसे पूर्ण नहीं कर सकता है अथवा किसीको भी ऐसा नहीं करना चाहिये। विश्वप्रकृति ऐसा नहीं करने देगी, विश्वप्रकृति जानती है कि ऐसा नहीं होना चाहिये। पहला कारण यह है कि हमारे नैतिक आदर्श स्वयं अधिकांशतः अपूर्ण-विकसित, अज्ञानयुक्त तथा मनमाने हैं, आत्मा के सनातन सत्यों की प्रतिलिपियां होने की अपेक्षा कहीं अधिक मानसिक रचनाएं हैं। शास्त्रमूलक तथा दुराग्रहपूर्ण होने से, वे कतिपय ऐकान्तिक मानदण्डों को सिद्धान्त-रूप में प्रबलतया प्रतिपादित करते हैं, पर क्रियात्मक रूप में आचारशास्त्र की प्रत्येक विद्यमान पद्धति या तो

प्रयोग में अव्यवहार्य सिद्ध होती है या वास्तव में उस ऐकान्तिक मानदण्ड से निरन्तर न्यून रहती है जिसका कि आदर्श दावा भरता है। यदि हमारी आचारसंबंधी पद्धति कोई समझौता या कामचलाऊ चीज है, तो यह अपनेको निःसत्त्व बनानेवाले उन और अगले समझौतों को भी तुरंत औचित्य का आधार दे देती है जिन्हें करने के लिये समाज व व्यक्ति जल्दी मचाते हैं। और यदि यह समझौता-न-करनेवाली दृढ़ता के साथ पूर्ण प्रेम, न्याय, सत्य का आग्रह करती है, तो यह मानवीय संभाव्यता के शिखर से ऊंची उड़ान लेती है और बगला भगति के साथ मानी जाती पर व्यवहार में उपेक्षित की जाती है। यहांतक कि यह भी देखने में आता है कि नैतिक पद्धति मानवता में विद्यमान उन अन्य तत्त्वों की अवगणना करती है जो जीवित बचे रहने के लिये तुल्यतया आग्रह करते हैं पर नैतिक सूत्र की चारदीवारी के भीतर बन्द होने से इन्कार करते हैं। क्योंकि जिस प्रकार कामना के वैयक्तिक नियम में अनन्त अखण्डवस्तु के ऐसे अमूल्य तत्त्व अन्तर्निहित हैं जिन्हें कि अभिभवकारी सामाजिक विचार के अत्याचार से बचाना होता है, ठीक उसी प्रकार व्यष्टिगत मानव तथा समष्टिगत मानव दोनोंके स्वभावज आवेगों में भी ऐसे बहुमूल्य तत्त्व अन्तर्निविष्ट हैं जो कि अबतक आविष्कृत किसी भी सदाचारसंबंधी सूत्र की सीमाओं के बाहर हैं और तथापि चरम दिव्य पूर्णता की समृद्धि एवं समस्वरता के लिये आवश्यक हैं।

अपिच, पूर्ण प्रेम, पूर्ण न्याय, पूर्ण यथार्थ तर्क व्याकुल तथा अपूर्ण मानवता के द्वारा वर्तमान काल में प्रयोग में लाये जाते हुए सहज ही संघर्षकारी तत्त्व बन जाते हैं। न्याय प्रायः उस चीज की मांग करता है जिससे कि प्रेम दूर भागता है। यथार्थ तर्क संतुष्टिकारक सूत्र या नियम की खोज में प्रकृति के तथा मानवीय संबंधों के तथ्यों पर निष्पक्ष भाव से विचार करता हुआ पूर्ण न्याय के कैसे भी शासन को या पूर्ण प्रेम के कैसे भी शासन को हेर-फेर के बिना स्वीकार नहीं कर पाता है। और सच तो यह है कि मनुष्य का पूर्ण न्याय व्यवहार में अनायास ही महान् अन्याय-रूप सिद्ध होता है; क्योंकि उसका मन, अपनी रचनाओं में एकपक्षीय तथा कठोर होने के कारण, एकपक्षीय आंशिक एवं उग्र योजना वा रचना प्रस्तुत करता है और उसकी सर्वांगता तथा पूर्णता का दावा भरता है तथा उसके ऐसे प्रयोग का भी जो कि वस्तुओं के सूक्ष्मतर सत्य एवं जीवन की नमनीयता की उपेक्षा करता है। हमारे सभी मानदण्ड कार्य में परिणत किये जाने पर या तो समझौतों की दोला में दोलायमान रहते हैं अथवा इस आंशिकता व अनमनीय रचना के कारण लक्ष्य से चूक जाते हैं। मानवता एकसे दूसरी स्थिति में डोलती रहती है; जाति परस्पर-विरोधी दावों से प्रेरित होकर टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर चलती रहती है और, सर्वतोदृष्ट्या, उसे ही सहज प्रेरणावश संपादित करती है जो कि विश्वप्रकृति का लक्ष्य होता है, किन्तु बहुत अपव्यय तथा कष्टसहन के साथ, इसकी अपेक्षा कि वह उसे संपन्न करे जिसे कि वह चाहती है या जिसे वह ठीक मानती है अथवा ऊपर से आनेवाली सर्वोच्च ज्योति अभिव्यक्त आत्मा से जिस चीज की मांग करती है।

*

तथ्य यह है कि जब हम पूर्ण नैतिक गुणों के सिद्धान्त पर पहुंच चुकते तथा आदर्श नियम के निरपवाद अलंघ्य शासन को स्थापित कर लेते हैं तब हम अपने अनुसंधान की समाप्ति पर नहीं पहुंच गये होते या मोक्षकारक सत्य को प्राप्त नहीं कर चुके होते। निःसंदेह, इस अवस्था में एक ऐसी चीज विद्यमान है जो हमें अपने अन्दर के अन्नमय तथा प्राणमय पुरुष से सीमाबद्ध होने की स्थिति से ऊंचा उठने में सहायता देती है, एक ऐसा आग्रह है

जो मानवता की वैयक्तिक तथा सामूहिक आवश्यकताओं एवं कामनाओं का अतिक्रम कर जाता है, उस मानवता की जो कि अभीतक उस प्राणपूरित पार्थिव पंक में फंसी हुई है जिसमें कि इसने अपनी जड़ें जमायी थीं, एक ऐसी अभीप्सा है जो हमारे अन्दर के मानसिक तथा नैतिक पुरुष को विकसित करने में सहायता देती है। परंतु हमारे अन्दर के मनोमय तथा नैतिक पुरुष के परे महत्तर दिव्य पुरुष है जो आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक है; क्योंकि विस्तीर्ण आध्यात्मिक स्तर के द्वारा ही, जहां कि मन के सूत्र साक्षात् आन्तर अनुभूति की शुभ्र ज्योति में विलीन हो जाते हैं, हम मन से परे पहुंच सकते हैं और इसकी रचनाओं का अतिक्रम कर अतिमानसिक सद्वस्तुओं की विशालता व स्वतंत्रता को प्राप्त कर सकते हैं। वहां ही हम उन दिव्य शक्तियों के सामंजस्य को अनुभव कर सकते हैं जो हमारे मन के सामने तुच्छ रूप में अयथा उपस्थित की जाती हैं अथवा नैतिक नियम के संघर्षकारी वा दोलायमान तत्त्वों के द्वारा मिथ्या रूप में चित्रित की जाती हैं। वहां ही रूपान्तरित प्राणमय तथा अन्नमय तथा ज्ञानदीप्त मनोमय पुरुष का उस अतिमानसिक आत्मा में एकीकरण संभव हो जाता है जो हमारे मन व प्राण व शरीर का एक साथ ही गुप्त स्रोत एवं लक्ष्य है। वहीं परम दिव्य ज्ञान की ज्योति में परस्पर एकीभूत पूर्ण न्याय, प्रेम व सत्याचरण की—जो उससे अत्यंत भिन्न होता है जिसकी कि हम कल्पना करते हैं—किसी तरह की संभावना होती है। वहीं हमारे अंगों के परस्पर-संघर्ष का सुसमाधान हो सकता है।

नैतिक आदर्शवादी अपने आचारसंबंधी ज्ञात तथ्यों में, मानसिक तथा नैतिक सूत्र से संबंध रखनेवाले हीनतर बलों तथा घटक तत्त्वों में इस परम नियम को खोजने का यत्न करता है। अथच इन्हें धारित तथा व्यवस्थित करने के लिये वह आचार के एक आधारभूत तत्त्व को चुन लेता है जो कि मूलतः निःसार होता है तथा बुद्धि, उपयोगिता, भोगवाद, तर्कणा, अन्तर्ज्ञानात्मक सदसद्विवेकबुद्धि अथवा किसी अन्य सामान्यीकृत मानदण्ड से विरचित होता है। ऐसे सब प्रयत्नों का असफल होना पूर्वनियत है। हमारी आन्तर प्रकृति नित्य आत्मा की प्रगतिशील अभिव्यक्ति है और यह ऐसी जटिल शक्ति है कि किसी एक प्रभुत्वशाली मानसिक वा नैतिक सिद्धान्त से बांधी नहीं जा सकती। अतिमानसिक चेतना ही इसकी विभिन्न एवं परस्परविरुद्ध शक्तियों के समक्ष उनके आध्यात्मिक सत्य को प्रकाशित कर सकती तथा उनकी विषमताओं को समस्वर कर सकती है।

अर्वाचीनतर धर्म आचार के परम सत्य की आदर्शमूर्त्ति को स्थिर करने, किसी पद्धति को स्थापित करने तथा अवतार या पैगम्बर के मुख से ईश्वरीय नियम को घोषित करने का प्रयत्न करते हैं। ये पद्धतियां, नीरस नैतिक धारणा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली एवं क्रियाशील होती हुई भी, अधिकांश में, उस नैतिक तत्त्व के आदर्शवादात्मक स्तुतिगानों के अतिरिक्त कुछ नहीं जो कि धार्मिक भाव से तथा अतिमानवीय उद्गम के सूचकपत्र से पवित्रीकृत होता है। अतिपूर्ण ईसाई आचारशास्त्र जैसी कई एक पद्धतियां विश्वप्रकृति के द्वारा त्याग दी जाती हैं क्योंकि वे अव्यवहार्य ऐकान्तिक नियम पर अक्रियात्मक रूप से आग्रह करती हैं। अन्य पद्धतियां अन्ततोगत्वा विकासात्मक समझौते ही सिद्ध होती हैं और काल की अग्रगति में निष्प्रयोग हो जाती हैं। इन मानसिक मिथ्या रूपों से भिन्न, सत्य दिव्य नियम उन कठोर नैतिक निर्णयों की पद्धति नहीं हो सकता जो हमारी सकल जीवनगतियों को अपने कड़े सांचों में जबर्दस्ती ढालते हैं। दिव्य नियम जीवन का सत्य है तथा आत्मा का सत्य है और यह निश्चय ही हमारे कर्म के प्रत्येक क्रम को तथा हमारे

जीवन-प्रश्नों की सारी जटिलताओं को स्वतंत्र सजीव सुनमनीयता के साथ अपनावेगा और उन्हें अपने शाश्वत प्रकाश के साक्षात् स्पर्श से अनुप्राणित करेगा। निःसंदेह यह नियम व सूत्र के समान नहीं बल्कि एक ऐसी सर्वतोव्यापिनी तथा अन्तर्व्यापिनी चेतन उपस्थिति के रूप में कार्य करेगा जो हमारे सब विचारों, कर्मों, भावों, संकल्पावेगों को अपने अचूक बल तथा ज्ञान से निर्धारित करती है।

प्राचीनतर धर्मों ने मनीषियों के धर्मसूत्र की, मनु या कन्फ्यूशस के स्मृतिवाक्य की, गहन शास्त्र की स्थापना की जिसमें कि उन्होंने सामाजिक नियम तथा नैतिक सिद्धान्त को और हमारी उच्चतम प्रकृति के कतिपय नित्य तत्त्वों के वर्णन को एक प्रकार के एकीकारक मिश्रण में मिला देने का यत्न किया। इन तीनों का इस एक ही आधार पर निरूपण किया गया कि ये नित्य सत्यों (सनातन धर्म) की एक समान अभिव्यक्ति हैं। परंतु इन तत्त्वों में से दो विकसनशील तथा कुछ काल के लिये युक्तियुक्त हैं, मानसिक रचनाएं हैं, सनातन देव की इच्छा की मानवकृत व्याख्याएं हैं, तीसरे को, किन्हीं विशेष सामाजिक एवं नैतिक सूत्रों से संबद्ध तथा उनके वशीभूत होने के कारण, अपने रूपों के भाग्य में भागीदार होना ठहरा। फलतः, या तो शास्त्र अव्यवहार्य हो जाता है और उसे उत्तरोत्तर परिवर्तित करना या अन्तिम रूप से त्याग देना होता है अथवा वह व्यक्ति तथा जाति की आत्मोन्नति में दृढ़ बाधा-रूप बना रहता है।

उच्चतर नैतिक नियम व्यक्ति द्वारा अपने मन तथा इच्छाशक्ति तथा आन्तरात्मिक इन्द्रिय में खोज निकाला जाता है और फिर वह जाति में व्यापक बनाया जाता है। परम नियम की खोज भी व्यक्ति को ही अपनी आत्मा में करनी होगी। उसके बाद ही, आध्यात्मिक प्रभाव द्वारा न कि मानसिक विचार के बल पर, उसे दूसरोंतक विस्तारित किया जा सकता है। किसी नैतिक नियम को कुछ एक ऐसे मनुष्यों पर नियम या आदर्श के रूप में आरोपित किया जा सकता है जिन्होंने चेतना की वह भूमिका या मन तथा इच्छाशक्ति तथा आन्तरात्मिक इन्द्रिय की वह सूक्ष्मता अधिगत न की हो जिसमें कि यह नियम वा आदर्श उनके लिये वास्तविक वस्तु और सजीव शक्ति बन सके। आदर्श के रूप में इसे तनिक भी व्यवहार में लाने की आवश्यकता के विना पूजा जा सकता है। नियम के तौर पर इसके बाह्य स्वरूप में इसका पालन किया जा सकता है चाहे आन्तरिक आशय सर्वथा छूट ही क्यों न जाय। पर अतिमानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन को ऐसे ढंग से यंत्रवत् नहीं चलाया जा सकता, इसे मानसिक आदर्श वा बाह्य नियम के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। इसकी अपनी ही महान् सरणियां हैं, किंतु उन्हें हृदयङ्गम करने की आवश्यकता है, वे व्यक्ति की चेतना में अनुभूत सक्रिय शक्ति की कार्यप्रणालियां तथा मन, प्राण व शरीर का रूपान्तर करने में समर्थ सनातन सत्य की प्रतिलिपियां होनी चाहियें। दिव्य चेतना तथा उसके पूर्ण सत्य के साथ हमारा सतत संबंध स्थापित होने से ही चिन्मय भगवान्, क्रियाशील परब्रह्म का कोई रूप-विशेष हमारी पार्थिव सत्ता का उद्धार कर सकता तथा उसके कलह, स्खलन, दुःखों तथा असत्यों को परम ज्योति, शक्ति तथा आनंद की प्रतिमूर्त्ति में रूपान्तरित कर सकता है।

*

समस्त आचार तथा कर्म एक परम बल की, परम शक्ति की गति का अंग हैं, जो (शक्ति) कि अपने उद्गम तथा गूढ़ आशय तथा संकल्प में अनन्त एवं दिव्य है, चाहे उसके ये रूप जिन्हें कि हम देखते हैं निश्चेतन या अज्ञानयुक्त, भौतिक, प्राणिक, मानसिक तथा सांत ही क्यों न प्रतीत होते हों, वह शक्ति व्यष्टिगत तथा समष्टिगत प्रकृति की अंधता

में भगवान् तथा अनन्त के किंचित् अंश को उत्तरोत्तर प्रकाशित करने के लिये कार्य कर रही है। यह ज्योति की ओर ले चल रही है, पर अभी अविद्या में से ही। यह मनुष्य को पहले-पहल उसकी आवश्यकताओं एवं कामनाओं में से राह दिखाती है; तदनन्तर यह उसकी विस्तारित आवश्यकताओं तथा कामनाओं में से, जो मानसिक तथा नैतिक आदर्श से संयत एवं प्रकाशयुक्त होती हैं, उसे परिचालित करती है। यह उसे एक ऐसी आध्यात्मिक चरितार्थता की ओर ले जाने की तैयारी कर रही है जो इन सब चीजों को पार कर जाती है और तो भी, इनके भाव तथा प्रयोजन में जो-जो भी दिव्यतया सत्य वस्तु है उस सबमें इन्हें कृतार्थ तथा समन्वित करती है।

पूर्ण अतिमानसिक क्रिया किसी एक ही मूलसूत्र या सीमित नियम का अनुसरण नहीं करेगी। व्यष्टिभूत अहंवादी के या किसी संगठित समष्टि-मन के मानदण्ड को यह संभवतः पूरा नहीं करेगी। यह न तो संसार के पक्के व्यावहारिक मनुष्य की मांग के अनुसार चलेगी न ही लोकाचारी नैतिकतावादी की, न तो देशभक्त की न ही भावनाप्रधान विश्व-प्रेमी की और न आदर्शपरिकल्पक दार्शनिक की। यह ज्ञानदीप्त एवं ऊर्ध्वीकृत सत्ता, इच्छाशक्ति तथा ज्ञान की अखण्डता में शिखरों पर से स्वतःप्रवृत्त स्रोतस्स्रवण के द्वारा उद्भूत होगी न कि निर्वाचित, गणनावधारित व मानदण्ड-मर्यादित क्रिया के द्वारा जो (क्रिया) बौद्धिक तर्क वा नैतिक संकल्पबल से प्राप्य सफलता का सर्वस्व है। इसका एकमात्र ध्येय होगा हममें निहित देवत्व को प्रकट करना और संसार को एक साथ संबद्ध रखना (लोकसंग्रह) तथा भावी परम अभिव्यक्ति की ओर उसकी प्रगति साधित करना।

यदि ईश्वरीय मध्यस्थता के किसी चमत्कार से संपूर्ण मानवजाति एक साथ इस स्तर तक उठायी जा सके तो उसके फलस्वरूप इस भूतल पर परंपराप्रसिद्ध स्वर्णयुग, सत्ययुग, सत्य के या सच्चे जीवन के युग-जैसी कोई वस्तु हमारे देखने में आयगी। क्योंकि सत्ययुग का चिह्न यह है कि दिव्य नियम प्रत्येक प्राणी में स्वतःस्फूर्त एवं सचेतन होता है और पूर्ण समस्वरता तथा स्वतंत्रता के साथ अपने कार्य करता है।

मानवता की वर्तमान वस्तुस्थिति में, निश्चितरूपेण व्यक्ति को ही मार्गदर्शक तथा नायक के रूप में इस शिखर पर पहले आरोहण करना होगा। और फिर, जो लोग अतिमानसिक पूर्णता को प्राप्त कर चुके हों उनका यदि कोई समूह या समुदाय बनाया जा सके तो, निश्चय ही, वहां कोई दिव्य सृष्टि मूर्तिमान् हो सकेगी; नयी पृथ्वी अवतरित हो सकेगी जो कि नूतन स्वर्ग होगी, इस पार्थिव अज्ञान के अपसरण करते अंधकार में विज्ञानमय ज्योति के जगत् का यहां सर्जन हो सकेगा।

नील विहग

[श्रीअरविन्दकृत 'दि ब्ल्यू बर्ड' (The Blue Bird) का रूपांतर]

मैं प्रभु के नभ का नील विहग,
दिव्योच्च अमलता में जो स्थित,
मैं गाता सत्य मधुर के स्वर
देवों औ' स्वर्दूतों के हित !

मैं मृत्यु लोक से ज्वाला सा
उठता अनंत में शोक रहित,
मैं पीड़ित मर्त्य धरा रज पर
बरसाता अग्नि बीज हर्षित !

मेरे पर, काल दिशा के पर,
उड़ते, उठ आभा में भास्वर,
मैं लाता शाश्वत के मुख का
उल्लास, आत्म दर्शन का वर !

दृग लालों से नापा करता
लोकों को, स्थित प्रज्ञा तरु पर,—
जो स्वर्गिक मुकुलों से भूषित
शाश्वत-स्रोतों के ढिग सुन्दर !

मेरा मन सीमाहीन, शांत,
कुछ छिपा न अब उर से भास्वर,
आनंद कलामय रहस गीत,
मेरी उड़ान संकल्प अमर !

—सुमित्रानंदन पंत

प्रकाश की ओर

६

कुछ परम रहस्य

चेतना अपनी साधारण गति में किसी वस्तु का, अपनेसे बाह्य किसी वस्तु का, आश्रय लेने की चेष्टा करती है; अकेली वह अपने अंदर रिक्तता अनुभव करती है तथा व्याकुल व दमघुटी-सी अनुभव करती है, मानो किसी विरलीकृत वातावरण में हो।

उच्चतर चेतना अपनेमें पूर्णता अनुभव करती है, अपनी सत्यता से लबालब पूर्ण होती है और उसे रिक्तता की पूर्त्यर्थ आवश्यक वस्तुओं व पदार्थों के लिये किसी बहिर्मुखी गति की आवश्यकता नहीं होती।

*

दो सीमावर्ती तथा विरोधी ध्रुवों पर दो चेतनाएं विद्यमान हैं–एक आत्मा की तथा दूसरी जड़-प्रकृति की। दोनों स्थितिशील हैं।

मध्य में है एक क्रियाशील चेतना; वह दोनोंको जोड़ती, सुसंगत तथा शक्तियुक्त करती है–यह गुह्य चेतना है।

आत्मा के लोक से जड़प्रकृति के लोक को जाने तथा वहांसे वापिस लौटने का मार्ग गुह्य लोक में से होकर जाता है।

*

दो देवत्व हैं: एक ऊपर दूसरा यहां नीचे। एक है विश्वातीत, दूसरा विश्वगत; एक है नित्य, अनंत, निर्विकार, निरपेक्ष, दूसरा अनित्य एवं कालगत, सान्त से आबद्ध, विकारी, सापेक्ष; एक है सर्वशक्तिमत्तया चेतन, दूसरा अचेतनता में निहित। एक है वह देवत्व जो कि सत् है, दूसरा वह देवत्व जो कि संभूत हो रहा है।

एक है वह देवत्व जो अपने नित्य परम सत्य के रूप में अवस्थित है–नित्य, स्वरूप; दूसरा है वह देवत्व जो अपने निरंतर विकासशील व्यवहार-सत्य के रूप में विद्यमान है–व्यवहार, रूप। दोनों एक ही देव हैं। ऊर्ध्वस्थित देवत्व, अवतरण करता हुआ, यहां अधःस्थित देवत्व बन गया है जो देवत्व कि, वहां नहीं बल्कि यहां, अपनी मूल प्रकृति से पुनः मिलने तथा उसे पुनः प्राप्त करने के लिये आरोहण कर रहा है।

सृष्टि इन दो मूलतत्त्व-रूप शक्तियों की परस्पर-क्रिया है, जो शक्तियां कि अपने-आपको विश्व-प्रकृति के रूप में प्रकट करती हैं–विश्वप्रकृति है द्विविध दिव्यता का निवर्तन एवं विवर्तन।

प्रगति का अर्थ है अधःस्थित देवत्व की विजयशाली आत्माविर्भाव के लिये यात्रा; इसकी आत्मोपलब्धि का अभिप्राय है ऊर्ध्वस्थित देवत्व का अपने अंदर ज्योतिर्मय साक्षात्कार।

पृथ्वी में चेतना है, जड़प्रकृति अभीप्सा से अनुप्राणित है; अवश्य ही वह चेतना निवर्तित तथा भीतर आवेष्टित है, वह अभीप्सा मूक है तथा अपने-आपको जानती नहीं।

वह चेतना उस दिव्यता की चेतना है जिसने कि इस जड़ रूप को निक्षिप्त तथा ग्रहण किया है, वह अभीप्सा है जड़प्रकृति के इस आकार में भी देवाधिदेव को पुनः प्राप्त करने के लिये, अपने-

आपको यहीं और अभी (इहैव) उस दिव्यता में उत्क्षिप्त करने के लिये।

उस चेतना तथा उस अभीप्सा के प्रबल प्रेरक दबाव में निहित है विकास का गुप्त आवेग।

जिस हद तक मनुष्य इस चेतना तथा अभीप्सा को अपनेमें मूर्तिमान् करता तथा अपने पार्थिव जीवन में इसे अभिव्यक्त करता है उसी हद तक वह विकास की यात्रा के साथ संगति रखता है और अपनी महान् भवितव्यता को पूर्ण करता है।

धर्म-मत निम्नतर देवताओं की पूजा है; यहां-तक कि प्रायः यह ऐसी सत्ताओं की पूजा-रूप होता है जो देवता बिलकुल नहीं होतीं वल्कि जो देवताओं के से हावभाव धारण करती, उनके सत्य का स्वांग रचती, उनके पद को वलात् छीन लेती, उनके दिव्य नाम पर मनमाने कार्य करती तथा उनके प्रभुत्व की नकल उतारती हैं।

मिथ्या-देवता सदा बुरे ही नहीं होते, नाहीं वे मनुष्यों को केवल विनाश की ओर ले जाते हैं: उनकी पूजा बहुधा उपयोगी हो सकती है, यहांतक कि हितकारी भी। परंतु ये सत्ताएं ऐसा न होने देंगी कि मनुष्य नियत सीमा के परे चला जाय; वे उसे चेतना के विकास की शृंखला में एक निश्चित सीमा से ऊंचा नहीं उठने देंगी। उस सीमा के अतिक्रमण के लिये किसी भी प्रयत्न वा प्रवृत्ति के प्रति वे ईर्ष्यालु जागरूकता के साथ घात में रहती हैं और उसे प्रवलता के साथ, यहांतक कि उग्रता के साथ दवाती हैं। अपने राज्य में, अपने धर्म के अनुसार, वे अपने पुजारियों को समृद्धि एवं शक्ति प्रदान करती हैं, शायद कभी-कभी चेतना की कोई उच्च भूमिका भी।

*

निम्नतर देवता तथा मिथ्या-देवता उन विविध शक्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं जो कि मानसिक, प्राणिक या भौतिक चेतना के लोक में राज्य करती हैं। यही हैं वे तीन स्तर जो, वैश्व तथा मानवीय विकासक्रम में, विश्वप्रकृति के निम्न गोलार्द्ध के मूल स्वर हैं।

देवता उच्चतर सीमाओं से संबंध रखते हैं, वे उच्च गोलार्द्ध की शक्तियां हैं; त्रिविध पार्थिव चेतना के परे तुरीय चैतन्य—चतुर्थ चेतना—में रहने से वे आत्मा के लोक के निवासी हैं। वे उस बृहत्तर ऋतचेतना (ऋतम्) के शक्तिशाली सार्वभौम धर्मों को मूर्तिमान् करते हैं।

इस त्रिधा अपरा विश्वप्रकृति के सभी धर्मों को पार कर जाना, तुरीय अवस्था की ऋत-चेतना को प्राप्त करना, हम जो कुछ हैं, हम जो कुछ ज्ञान, संकल्प, अनुभव व कर्म करते हैं उस सबमें आत्मा के तथा केवल आत्मा के विधान वा धर्म को अभिव्यक्त करना—यही है आध्यात्मिकता से हमारा अभिप्राय।

—नलिनीकान्त गुप्त

चले चल

'करे चल', 'चले चल', 'लड़े चल' यह तेरा मंत्र होना चाहिये। ऐ परम यज्ञ के याज्ञिक! ऐ अनन्त पथ के पथिक! ऐ दिव्य युद्ध के योद्धा! तेरा आजकल यही मंत्र होना चाहिये। तेरे अन्तरतम की पुकार यही है। तू उसकी तरफ कुछ भी अभिमुख होगा तो तुझे एक यही 'ध्वनि' सुनायी देगी।

तुझे तो इस महान् पवित्र यज्ञ को पूरा करके एक दिन अवश्य अवभृथ-स्नान करने का दिव्य सुख प्राप्त करना है। यह जीवन, जगत् की यह सब हलचल, और किस लिये है? देख वहां, वहां, इन यज्ञिय कर्मों की समाप्ति पर, सफलता-सिद्धि तेरी बाट जोह रही है।

तुझे दूर-दूर, बहुत दूर अपने अभीष्ट धाम पर पहुंचकर ही विश्रान्ति प्राप्त हो सकती है। रास्ते में कहीं नहीं, कभी नहीं। तो फिर इधर-उधर के सोच-विचारों में पड़ने से क्या लाभ? देख, वहां तेरा गन्तव्य स्थान, तेरा ज्योतिर्मय धाम, तेरा असली अपना घर तुझे अनवरत बुला रहा है।

तुझे निरन्तर लड़ना है। लड़-लड़कर ही अपनी पूर्णता सिद्ध करनी है। सब असुरों को, सब शत्रुओं को, भगवान् के सब विरोधियों को परास्त कर देना और उनका पूरी तरह उन्मूलन कर डालना है। वीरता, पराक्रम, धैर्य, साहस के ऊंचे भाव, इनके उदात्त आनन्द और किस लिये जगत् में रखे गये हैं? इनका दिव्य आस्वादन प्राप्त कर। देख, दूसरे किनारे पर साक्षात् विजयदेवी तेरा स्वागत करने के लिये मुसकरा रही है।

*

सचमुच मैं बहुत बार हतोत्साह हो जाता हूं। इतनी देर से यत्न कर रहा हूं, अपने यज्ञ-कर्म पर सतत आरूढ़ हूं, पर फिर भी अभीष्ट परिणाम निकलता नहीं दिखायी देता। खिन्न हो जाता हूं। मन में आता है, कबतक यही करते जाना है? इसका कब अन्त होगा? कई बार यहांतक सोचने लगता हूं, संदेह करने लगता हूं कि कहीं मैं भ्रम में, धोखे में तो नहीं पड़ा हूं। अपना साधन-कार्य छोड़ देने का भी विचार हो जाता है। पर अन्दर मुड़कर देखता हूं तो आत्मा कह रहा होता है 'करे चल, करे चल।'

अपने मार्ग की लंबाई देखकर मैं प्रायः अधीर हो जाता हूं। बहुत देर से चलते-चलते, बहुत लंबा मार्ग तय कर चुकने के कारण, ख्याल आता है कि सामने जो मोड़ दिखायी दे रहा है, हो न हो, वही मेरा 'गन्तव्य स्थल' है, किंतु उस मोड़ पर पहुंचने पर और आगे-आगे जाता हुआ मेरा रास्ता सामने आ जाता है। ऐसा अनेक बार हो चुका है। ऐसे समय बिलकुल घबरा जाता हूं। पीछे लौटूं तो कहां लौटूं? और आगे कहीं मार्ग का अन्त नहीं दिखायी देता। उस घबराहट में मैं जब जब बुरी तरह विचलित हो जाता हूं तब तब आत्मा पुकार उठता है 'घबरा नहीं, चले चल, चले चल।'

अपनी निर्बलताओं, अपने विकारों से, विरोधी भावों से लड़ते-लड़ते बहुत समय बीत चुका। 'अहं', आसक्ति, अविद्या आदि नाना शत्रु, नये-नये रूप धारण करके, नये-नये मोर्चे पर सदा आते रहते हैं, लगातार मुझे आगे बढ़ने से रोकते हैं, इनका कहीं अन्त नहीं दिखायी पड़ता। क्या करूं? क्या हार मान लूं? भगवान् की जगह क्या इन्हें आत्म-समर्पण कर दूं? ठीक ऐसे संकट के समय पर,

मेरा ध्यान अपनी ओर खींचते हुए, आत्मा की 'ध्वनि' गूंज उठती है 'लड़े चल, लड़े चल।'

*

सब बात इस कठिन समय को धीरज के साथ पार कर जाने की है।

यह ठीक है कि जब तू अपनी बुराई के उन्मूलन करने के पवित्र कार्य में परिश्रमपूर्वक लगा हुआ है तब तुझे प्रायः ऐसा ही लगता है कि मैं जितना जितना खोदता जाता हूं उसकी जड़ उतनी ही गहरी गहरी निकलती आती है। परंतु अवश्य ही उस जड़ का कहीं अन्तिम छोर है और वह छोर एक दिन निकल ही आवेगा। यह कितने दुर्भाग्य की बात होगी कि जब वह अन्तिम छोर निकल आने को हो तो उससे कुछ देर पहले ही तू घबराकर अपना परिश्रम त्याग देवे और इस तरह इतनी देर के किये अपने सब घोर परिश्रम को विफल कर दे।

यह ठीक है कि तू बद्रीनाथ की चढ़ाई में ऊपर ऊपर चढ़ता हुआ बहुत बार अनुभव करता है कि ज्यों-ज्यों तू आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों लक्ष्यभूत पहाड़ की चोटी दूर ही रहती दिखायी देती जाती है। अब मालूम पड़ता है कि इस पहाड़ी के लांघने पर वह चोटी आ जायगी, पर वहां पहुंचने पर वह और आगे दूर दीखने लगती है। पर अन्ततः बद्रीनाथ की चोटी भी तो वस्तुतः है ही। यह कैसा दुःखान्त खेल होगा कि तू बद्रीनाथ के समीप पहुंचकर उससे पहले की किसी चट्टी पर ही बेहाल होकर हार मानकर बैठ जाय, इतनी देर तक जो 'चले चल' करते-करते तूने अपने पैरों को निरन्तर थकाया है उस सबको अपने जरा से अधैर्य के कारण विफल कर दे।

यह ठीक है कि शत्रु पर प्रहार करते जाते बहुत देर तक ऐसा लगा करता है कि शत्रुरूपी चट्टान टूटने में नहीं आती। सब प्रहार विफल होते दीखते हैं। परंतु यदि प्रहार करना जारी रखा जाय तो एक बार उस एक अन्तिम प्रहार की भी बारी आनी ही है जिसके पड़ने से वह चट्टान टुकड़े-टुकड़े हो जायगी। यह कितनी करुणाजनक स्थिति होगी कि तू उस अन्तिम प्रहार के आने से तीन-चार प्रहार पहले ही अपनी हिम्मत छोड़कर लड़ाई त्याग दे और अबतक के किये सब संघर्ष को मिट्टी में मिला दे।

इसलिये यहांतक पहुंचकर धैर्य मत छोड़। करे चल, चले चल, लड़े चल।

*

पर हे प्रभो! मैं देखता हूं कि इस 'आगे ही आगे बढ़ने' के जीवन-नियम को–जिसे कि सहस्रों वर्ष पूर्व भी ऐतरेय ऋषि ने अपनी 'चरैवेति चरैवेति' की अमर वाणी में जगत् को सुनाया था–मनुष्य तभी अपना सकता है जब कि उसे श्रद्धा प्राप्त हो, लक्ष्यपूर्त्ति की अवश्यंभाविता में उसे अविचल विश्वास हो गया हो, वह तेरी श्रद्धा की अडिग चट्टान पर खड़ा हुआ हो। इसलिये, हे प्रभो! तू मुझे श्रद्धा प्रदान कर, सतत श्रद्धा प्रदान कर। तू मुझे निश्चय करा दे कि प्रयत्न की सफलता निश्चित है। तू मुझे दिखा दे कि जिस अंधेरी सुरंग में से हम गुजर रहे हैं वह समाप्त होनेवाली है और उसके अन्त में खुला विस्तृत प्रकाश है। तू मुझे आश्वस्त कर दे कि जिस संघर्ष में हम जूझ रहे हैं उसमें हमारी विजय अवश्यंभावी है, हमें तो केवल उसमेंसे गुजर ही जाना है।

–अभय

योग-दीक्षा

८

पांडिचेरी

सविनय निवेदन,

वाह्य अनुष्ठान, देहगत तपस्या, नियम-संयमादि की विशेष आवश्यकता श्रीअरविन्द के योग में नहीं। केवल शारीरिक या नैतिक निग्रह से कोई बहुत बड़ी चीज प्राप्त नहीं होती। शारीरिक या नैतिक निग्रह प्रवृत्ति को जोर-जवर्दस्ती से दबाते हैं। उससे बाहर में शुद्धि और सात्त्विकता का भाव आता है किंतु भीतर में अशुद्धियां जमी रहती हैं। गीता इस प्रकार के निग्रह का अनुमोदन नहीं करती— 'निग्रहः किं करिष्यति।' बाह्य नियम-संयम की विशेष आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है आन्तरिक नियम-संयम की। वह बिलकुल भिन्न प्रकार की चीज है।

*

प्रकृति का नियम पालन करना हमारा आदर्श विलकुल ही नहीं। साधारण जीवन प्राकृत जीवन है। प्रकृति के नियमों के ऊपर उठना ही योग का लक्ष्य है।

समाज या देश के लिये कर्म करने के साथ योग का कोई अंगांगि-संबंध नहीं। कर्मयोग के स्तर पर जब साधक रहता है तब समाज या देश उसके कर्म का क्षेत्र मात्र हो सकता है, इससे अधिक नहीं। असली लक्ष्य तो भीतर में एक नये सत्य को पाना और प्रतिष्ठित करना है। इस नूतंन सत्य में कर्म की नयी प्रेरणा, नये ढंग और लक्ष्य दिखायी देंगे। इस भीतर के सत्य के अनुसार बाहरी कर्म और जीवन एक नये ढांचे में ढल जायंगे। उस जीवन में शृंखला किस प्रकार की होगी उसकी रूपरेखा अभीसे खींचने की कोई आवश्यकता नहीं। पहले आवश्यक है आन्तरिक शुद्धि, अन्तर में सत्य की प्रतिष्ठा— नये जीवन की बुनियाद अन्तर में ही है। पहले वह ठीक और पक्की होने से उसकी प्रतिभा और शक्ति और छन्द क्रमशः बाहर आयंगे और जीवन को नये ढंग से गढ़ेंगे।

*

आपने लिखा है कि आप आनन्द पा रहे हैं सो बड़ी अच्छी बात है। आनन्द को पक्का करना होगा किंतु यह बात याद रखनी होगी कि आनन्द ही सब कुछ नहीं है।

आत्म-समर्पण के संबंध में आप जरा विचलित हुए हैं किंतु यह चीज सहज ही में नहीं होती। धीरे-धीरे तिल-तिल करके असीम धैर्य के साथ इस चीज को पूर्ण से पूर्णतर, गभीर से गभीरतर करना होता है। यह चीज समय-सापेक्ष है और साधना के अन्त तक चलती रहती है।

विनीत

नलिनीकान्त

(इस पत्र के साथ हम श्री अनिलवरण राय का योग-दीक्षा नामक पत्र-व्यवहार समाप्त करते हैं। तीन पत्र अभी बाकी हैं। 'योग-दीक्षा' शीघ्र ही पुस्तक रूप में प्रकाशित होगी और वे उसमें सम्मिलित कर दिये जायंगे। —सं०)

अदृश्य शक्ति का हाथ

आज से करीब चार साल पहले की घटना है। उन दिनों कैवल्यधाम आश्रम में वह अपनी चिकित्सा करा रहा था। अचानक एक दिन उसकी दृष्टि 'मोडर्न रिव्यु' में गीता की समालोचना पर गयी, जिसमें आलोचक ने गीता की, जहांतक याद है, परा और अपरा प्रकृति पर मतविरोध प्रकाशित करते हुए उस व्याख्या की बड़ी छीछालेदर की थी। पर विरुद्ध और भद्दी समालोचना होने पर भी न जाने क्यों वह उसकी ओर आकर्षित हो उठा, फलस्वरूप उसने उस गीता के लिये ऑर्डर दे दिया और समय पर उसकी वी० पी० आ पहुंची, उसने बड़ी तत्परता के साथ छुड़ायी और लगे हाथों पुस्तक का अध्ययन, मनन-चिन्तन करने लगा। कहना व्यर्थ है कि वही सूत्रपात था श्रीअरविन्द के योग में प्रवेश पाने का। उसका हृदय उल्लसित था इसलिये कि वर्षों के बाद, उसे वह चीज मिली जिसकी उसे तलाश थी। उस गीता के संपादक ने श्रीअरविन्द की व्याख्या के आधार पर उसका निर्माण किया है यही कदाचित् उसके आकर्षण का कारण था।

भगवत्कृपा की यही तो विशेषता है कि विरुद्ध दिशा से भी वह मनुष्य को अग्रसर करती है ऊर्ध्वलोक की ओर। उस गीता ने उसकी उत्कण्ठा में चार चांद लगा दिये, पर उसे इतने से ही संतोष न था, यह तो केवल प्रेरणा थी। उसकी भूमिका में संपादक ने अपने पते के स्थान पर लिखा था—श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी। फिर क्या था? उमंग में आकर उस अपरिचित संपादक के साथ पत्र-व्यवहार करने को वह तत्पर हो उठा, उसने एक लंबी चिट्ठी लिखी, और उत्तर के लिये एक जवाबी लिफाफा डालना भी वह न भूला। आपने कृपापूर्वक जवाब तो दिया पर श्रीअरविन्द के दर्शनों के लिये जिन कठिनाइयों का उल्लेख उस पत्र में किया गया था, उससे उसका जोश ठण्डा पड़ गया। फिर भी उसने मन ही मन यह संकल्प कर लिया कि, जैसे भी हो, एक बार उस महापुरुष के दर्शन तो करने ही होंगे, भले ही आज न सही—कभी हो लेंगे।

यह बात वहीं खतम हो गयी। वह अपने काम में लग पड़ा, उसके मस्तिष्क से भी वह बात न जाने कब निकल गयी। कुछ महीने और भी निकल गये। पर प्रभु की दया, अचानक उसे श्रीरमण आश्रम में आने की सुविधा अनायास ही प्राप्त हुई और वह वहांके लिये दौड़ पड़ा। उसके आनन्द का भला क्या कहना! वह महर्षि के चरणों के निकट था और निकट रहने के लिये उसने कम से कम दस दिन की अवधि निश्चित कर छोड़ी। वह अपनेको उनके सान्निध्य में डुबाये पड़ा रहा। पर वह अपनेको संपूर्ण रूप से डुबा न सका, तभी उसे फिर से पांडिचेरी की याद हो आयी। ओह! इतना निकट फिर क्यों न वह वहांके लिये तैयार हो? उसने फिर से कलम थामी और मंत्री के नाम जवाबी लिफाफे के साथ एक पत्र रगड़ डाला। मगर अधिक प्रतीक्षा न करनी पड़ी, तीन-चार दिन के भीतर ही डाकिया एक पत्र दे गया और उसने बड़ी उत्सुकता के साथ उस लिफाफे को खोला, पत्र क्या था—एक छपी हुई लेटर-चिट थी, जिसकी दो पंक्तियों में नकारात्मक उत्तर मात्र था। धन्य भाग्य! आखिर जवाब तो मिला, यही क्या कम है? पर उस जवाब से उसका सिर भनभना उठा। वह भी कोई आश्रम है! इतना प्रतिबन्ध! और वे महापुरुष! ऐसा भी क्या है जो दर्शन तक नहीं देते! कभी बाहर तक

नहीं निकलते !....एक यह आश्रम है और ये महापुरुष हैं....हर समय दरवाजा खुला हुआ, सबके लिये, कोई रोक-टोक नहीं, न 'परमिशन' लेने का बखेड़ा, न और कोई प्रतिबन्ध...आदि-आदि न जाने कितनी लहरें दिमाग में उठीं–गिरीं....उसका विचार वहां-का-वहां ही दबका पड़ा रहा गया ! अवश्य उसे मानसिक व्यथा भी कुछ कम न हुई।

अन्त में उसने अपनी लौटती यात्रा में निश्चित कियां कि पांडिचेरी न सही, तिरुपति जाकर बालाजी भगवान् के दर्शन करते हुए घर चला जाय। यह निश्चय अटल था, इसी रूप में महर्षि को अन्तिम बार प्रणाम कर, उनके आशीर्वादों को सिर चढ़ा प्रसन्नवदन वह वहांसे विदा हुआ।

सन्ध्या का समय था, ठण्डी हवा बह रही थी, सूर्य भगवान् अस्ताचल की ओर जा रहे थे, पर उसकी बैलगाड़ी स्टेशन की ओर दौड़ लगा रही थी। उसे भय था, कहीं ट्रेन छूट न जाय। वह गाड़ी से उतरा और किराया चुकाकर स्टेशन के भीतर की ओर लपका, भीड़ न थी, इसलिये टिकट कटाने में कोई दिक्कत न हुई। इस तरह टिकट लेकर वह प्लेटफार्म पर आ पहुंचा। तब भी ट्रेन में देर थी, पर वह निश्चिंत हो प्रसन्नतया प्लेटफार्म पर टहलने लगा। इसी समय एक तामिल सज्जन ने, उसकी वेशभूषा देखकर, उससे जानना चाहा कि वह कहां जा रहा है? उत्तर में उसने बतलाया कि उसे तिरुपति जाना है। इसपर वे तामिल सज्जन चौंक उठे और बोले–यह ट्रेन तो विलुपुरम् की ओर जायगी, फिर तिरुपति का टिकट अभी कैसे मिला?....तो क्या यह गाड़ी तिरुपति की ओर न जायगी? कहते हुए उसने अपनी जेब से टिकट निकाला और उसे वह देखना ही चाहता था कि तभी वे सज्जन बोल उठे–अरे यह तो पांडिचेरी का टिकट है! फिर आप तिरु....

–पांडिचेरी!–अनायास उसके मुंह से निकल पड़ा, पर, उतने ही क्षण में अपनेको संभालते हुए वह बोला–मगर झेंपते हुए–नहीं, हां, पांडिचेरी ही अभी जाना है, तिरुपति बाद में....

वह धीरे से दूसरी ओर को बढ़ गया और सोचने लगा–कैसे लिया गया यह पांडिचेरी का टिकट? वह पांडिचेरी जहां उसका जाना व्यर्थ है। चलो लौटा दिया जाय इसे और इसके बदले तिरुपति का लिया जाय .... मगर उसकी समझ में यह आ ही न रहा था कि आखिर यह भूल उससे कैसे हो गयी! भूल?–उसने दिमाग पर जोर डाला–हां भूल ही तो! पांडिचेरी की बात तो जाने कबकी काफूर हो चुकी थी! मगर अब?

और तभी उसे याद आयी, उसे लगा कि हो-न-हो, अदृश्य शक्ति का हाथ अवश्य है इसमें! तो क्यों न पांडिचेरी ही चला जाय? क्या हुआ–श्रीअरविन्द के दर्शन न होंगे, श्री माताजी के दर्शन न होंगे, आश्रम न देख सकूंगा–यही तो उसके पत्र का उत्तर था!....मगर आज इनमेंसे किसीकी जरूरत नहीं है! वह पांडिचेरी जायगा, वह बाहर-बाहर उस आश्रम को ही देख लेगा और पूछ लेगा किसीसे वहां, कहां रहते हैं वे महापुरुष? कहां रहती हैं वे करुणामयी मां? और उसी बन्द मकान को वह बाहर से प्रणाम कर लेगा–यही उसके लिये काफी है। इस सुयोग से उसे कौन वञ्चित कर सकता है?

वह टिकट अब भी उसके हाथ में ही था, उसने फिर से उसे देखा और आप ही आप उसके ओठों पर मुस्कराहट दौड़ गयी। उसने मन ही मन उस अदृश्य शक्ति के प्रति विनम्र अभिवादन किया। तभी दूसरी ओर से दौड़ती हुई ट्रेन प्लेटफार्म को छूने के लिये चंचल हो उठी। उसने अपना सामान संभाला और बहुत आसानी से एक डिब्बे में आ बैठा। वह खुश था इसलिये कि वह महापुरुष के

निवास-भवन को बाहर-बाहर प्रणाम कर लेगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल आठ बजें, रिक्शावाले ने एक विशाल भव्य-भवन के सिंहद्वार पर अपनी रिक्शा को ठहराते हुए कहा—यही आश्रम है। उसने गाड़ी से उतरते हुए कहा—यही है आश्रम! अरे यही आश्रम है? क्या कहा तूने! हां, उतरो, सा'ब, पूछ देखो, हम जूट नह काता।

वह भौंचक था! इतना आलीशान भवन! तो क्या यही श्रीअरविन्द आश्रम है!—आश्रमों का गुरु? उसने रिक्शावाले को विदा किया, भीतर-भीतर हिम्मत बांधी, जब सिंहद्वार पर वह आ ही धमका है, तब एक बार उसे भीतर भी घुसने की कोशिश करनी चाहिये! दरवाजा तो खुला ही है! और वह बाहर से ही देख रहा है—दरवाजे के भीतर—सटे हुए ही स्टूल पर एक आदमी बैठा है, उसके लम्बे अस्तव्यस्त केश, लम्बी घनी दाढ़ी, उन्नत ललाट और सौम्य गंभीर प्रकृति! क्या ये साधक तो नहीं? हां, साधक ही हो सकते हैं। उसने भीतर घुसकर कुछ आगे बढ़ते हुए उनके प्रति शिष्टतापूर्वक प्रणाम किया, तभी उन्होंने उसका परिचय और आने का उद्देश्य जानना चाहा।

परिचय और उद्देश्य के रूप में उसने जो कह सुनाया उससे उनकी आकृति की रेखाएं सघन हो उठीं, कुछ क्षण तक वे चुप रहे, उसके बाद किंचित् गंभीर होकर बोले—बड़े अच्छे विचार को लेकर आये हैं। मगर इस तरह का आना उचित नहीं; हां, माताजी की आज्ञा से आप आश्रम देख सकते हैं।

उसकी बातों से उसे कुछ खेद तो अवश्य हुआ, पर थोड़ी सी आशा की किरण झिलमिलाती सी भी जरूर दीख पड़ी, वह बोल उठा—मगर आज्ञा कैसे प्राप्त की जाय? क्या आप मेरी कुछ सहायता....

और बीच में ही बात काटते हुए उसकी ओर एक कागज की चिट बढ़ाते हुए उन्होंने कहा—यह लीजिये कागज और माताजी के नाम एक दर्खास्त लिखिये....मैं उसे उनके पास भेज दूंगा। और यदि आज्ञा मिल गयी तो आप चार बजे यहां आ जाइये—तभी आश्रम देख सकेंगे।

उसने उल्लास में एक छोटी सी दर्खास्त लिखी, उनकी ओर बढ़ायी और तभी उसे पुस्तकों की सूची वहां देखने को मिली। फिर लाइब्रेरी के दफ्तर में दाखिल हो कुछ पुस्तकें खरीदकर वह बाहर निकला। उसकी आशा बंध चली थी, वह खुशी खुशी पांडिचेरी को देखने के लिये निकल पड़ा।

चार बजे के कुछ मिनट पहले वह आश्रम के फाटक पर फिर से आ धमका; मगर उस समय दूसरे सज्जन वहां बैठे दीख पड़े। उन्होंने भी उसका परिचय पूछा और उसका नाम जानकर बोल उठे—आपको आश्रम देखने की आज्ञा मिल चुकी है, बैठिये कुछ क्षण तक, दिखलानेवाले आते ही होंगे। वह सानन्द बेंच पर बैठ गया, पर पांच मिनट से ज्यादा न हुए होंगे कि एक बंगाली सज्जन ने आते हुए ही पूछा—क्या आपका नाम....?

—हां, मैं ही हूं—उसने उठते हुए कहा।—चलिये मैं ही आपको साथ ले चलूंगा। और वह उनके साथ भीतर की ओर बढ़ा। उन्होंने बड़े स्नेह से घूम-घूमकर सभी चीजें दिखलायीं,—और वह देखता चला गया। इसके बाद उसने यह कहकर अपनी इच्छा प्रकट की क्या आप श्रीअरविन्द के योग के संबंध में कुछ कहने की कृपा कर सकेंगे?

—हां—हां, क्यों नहीं!—उन्होंने कहा और उसे साथ लेकर 'रिसेप्शन-रूम' के सोफे पर आ बैठे। करीब आध घंटे तक वे प्रसन्न और शान्त होकर बोलते रहे और वह सुनता रहा। कहना व्यर्थ है कि इस योग-दर्शन से उसके रोम-रोम पुलकित हो उठे। अन्त में उसने उनसे विदा मांगी और उन्हें नमस्कार कर बाहर की ओर चल पड़ा। मगर वह ज्योंही फाटक से बाहर निकला त्योंही उसकी एक परिचित बंधु से भेंट हो गयी। फिर

क्या था, दोनों गले-गले मिले, फिर कुशल-प्रश्न !... उस दिन वह वापस न हो सका, बंधु की अभ्यर्थना अमान्य वह कैसे करे! आखिर होटल से उसे अपने मित्र-निवास में आना पड़ा। वह मित्र-निवास गणपति मन्दिर का बाहरी कमरा था।

दूसरे दिन, भोजन के उपरान्त दोपहरिया काटने के बाद गप्पें चल रही थीं, दोनों मित्र आनन्द में उत्फुल्ल थे, किवाड़ के पल्ले भिड़े हुए थे। इसी समय बाहर से 'गुजरातीजी गुजरातीजी' कहते हुए एक सज्जन ने पुकारा, किवाड़ खोल दिये गये। वे भीतर आये और गुजरातीजी से बातें करने लगे। उसी प्रसंग में उन्होंने नये आगन्तुक के संबन्ध में उनसे पूछा। मगर नवागन्तुक तो उनकी आकृति और वेश-भूषा की ओर टकटकी बांधे देख रहा था और मन-ही-मन समझ रहा था कि ये भी साधक हैं। श्यामल आकृति पर कटी-छंटी मूंछें, गर्दन के नीचे तक लम्बे लहराते काले केश, आंखों में खुमारी का नशा, ओठों पर भीनी-भीनी मुस्कराहट! हां ये भी साधक हैं? ये लोग कितने भाग्यवान् हैं....

उस समय नवागन्तुक से उनकी बातें न हुईं। वे थोड़ी देर तक रहकर चले गये; पर कोई आध घण्टे के बाद फिर से वे आकर बोले—नवागन्तुक-जी, उस बार मैं गुजरातीजी से मिलने आया था, पर इस बार आपसे मिलने आया हूं।

—मेरा सौभाग्य !—नवागन्तुक ने मुस्कराते हुए विनम्रतापूर्वक कहा—आइये, विराजिये।

और वे उसकी बिछावन पर आ बैठे। बातें चलीं, कहांसे आये, कैसे आये? कौनसा व्यवसाय करते हैं? इस ओर कैसे प्रवृत्ति हुई? प्रश्नों की जैसे झड़ी लग गयी....और भी अनेक तरह की बातें हुईं। अन्त में उन्होंने यह भी जाना कि वह क्यों और किस चामत्कारिक तरीके से यहांतक आ सका है। फिर उसने यह भी बतलाया कि यदि श्री मां के दर्शन उसे हो जाते तो वह निहाल हो जाता।

—दर्शन !—वे बोल उठे—मगर उसके लिये छटपटाहट भी तो चाहिये। यह कब मुमकिन है कि बच्चा मां-मां कहकर रोवे और मां बैठी रहे! आप रोवें, मां मिलेंगी!

—मैं जो रो रहा हूं भीतर-भीतर।

—तो मां के दर्शन होंगे ही।

—होंगे?

—होंगे क्यों नहीं, मगर वह सच्ची अभीप्सा चाहिये।

हां, सच्ची अभीप्सा !—वह मन-ही-मन बोल उठा। उसने एक बार गहरी सांस ली, फिर उसने अपनेको संभाला, तभी उसके अन्तर का देवता बोल उठा—जोर-जोर से पुकारो—पुकारो मां को, तुम्हारी शक्ति तुम्हें मां के निकट ले जायगी, अधीर क्यों हो रहे हो?

उन्होंने केवल एक उत्कण्ठा जगाकर अपनी राह ली।

*

आधे घण्टे से अधिक न हुआ होगा कि वे फिर हंसते हुए आकर बोले—भाग्य अच्छा था, आज्ञा मिल चुकी है, साधनास्थल पर बैठ सकेंगे आप, और मां के दर्शन भी होंगे.... आज २९ मार्च है न! आज के दिन श्री मां का शुभागमन हुआ था यहां। मैं आपके साथ रहूंगा। पर थोड़े से फूलों का प्रबंध कर लेना अच्छा रहेगा।

—फूल? मैं गुलाब का गुलदस्ता खरीद लाया हूं बाजार से, यह देखिये!—कहते हुए वह उनके साथ हो लिया।

सन्ध्या के सात साढ़े सात होंगे। वह आनन्द में उद्बुद्ध हो फूलों का गुलदस्ता हाथ में लिये साधना-स्थल पर आया, जहां पहले से साधकगण बैठ चुके थे। वह अपनी जगह निकालकर बैठ गया, उसके

साथ ही वे सज्जन भी बैठे। सभीकी आंखें मुंदी थीं, उसने भी अपनी आंखें मूंद लीं, पर उसका मन चंचल था, फिर भी वह धीरे-धीरे अपने-आपमें डूबता चला,–हां डूबता चला, फिर खड़बड़ की आवाज सुनी और आंखें खोलते ही पाया कि सामूहिक ध्यान हो चुका है और बहुत से उठ खड़े हुए हैं।

इसके बाद–हां, इसके बाद उनमेंसे कुछ–शायद संख्या में तीस के लगभग होंगे–साधकों की एक कतार बनी, वह सबके पीछे खड़ा हो गया उस कतार में, उसके आगे उसके वे पथ-प्रदर्शक साधक थे। एक-एक कर सीढ़ियों की राह ऊपर चले...। इस तरह वह भी ऊपर बढ़ चला, बढ़ता चला, और जब वह अकेला ही रह गया, तब उसने पाया कि सामने पीत वस्त्रों में जो भव्य-मूर्ति खड़ी हैं वही मां हैं! मां ? वह इतने भावावेश में था कि उसे यह भी न पता चला कि वह कब और किस तरह उनके चरणों में पड़ा है और मां के बायें हाथ में वह गुलदस्ता है और दायां हाथ उसके शिर पर धरा हुआ है। ओह, वह स्पर्श! वह स्पर्श...।

और आज भी वह उस स्पर्श का अनुभव कर पुलकित हो उठता है।

–अनूप

अभी साधु मत बन

व्यापार करता हूं उससे आधा करूं तो हानि-लाभ आधे हो जायं।

किंतु कुआं जितना खोदना चाहिये उससे आधा खोदा जाय तो जल जितना निकलना चाहिये उससे आधा भी न निकले।

उसी प्रकार हृदयगुहा तक पहुंचने के लिये निकला हुआ यात्री आधे रास्ते से लौट जाय तो हृदयस्थ विभूति के दर्शन से जो लाभ होता है उससे आधा भी लाभ नहीं हो पाय।

श्रम लगभग व्यर्थ जाय।

मानव, अधबीच से लौटना हो तो अभी संसार में ही रह। साधु मत बन।

–गिरधरलाल

गीता का अधिकारी*

गीता संसार का श्रेष्ठ धर्मग्रंथ है। इसमें अनेक प्रकार के दार्शनिक और आध्यात्मिक भावों का अद्‌भुत रीति से समन्वयपूर्वक वर्णन किया गया है। जिस ज्ञान का इसमें संक्षेप में वर्णन है वह इतना अधिक उच्च, व्यापक और गंभीर है कि अत्यंत प्रतिभाशाली मनुष्य के लिये भी इसके उच्च-तम शिखर पर पहुंचना, इसके विस्तार को नापना, इसकी गहराई की थाह लगाना अत्यंत कठिन है। परंतु भाषा इतनी अधिक सरल है कि साधारण मनुष्य भी अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार इसमेंसे अपने जीवनोपयोगी कुछ-न-कुछ अमूल्य रत्न अवश्य ग्रहण कर सकता है। इस कारण अन्य धर्मग्रंथों की अपेक्षा इसमें यह विशेषता देखी जाती है कि विद्वानों के लिये अपनी-अपनी रुचि के अनुसार इसके कुछ विशेष वचनों को अत्यधिक महत्त्व देना और शेष समस्त ग्रंथ को गौण मान-कर अपने किसी विशेष मत के अनुकूल संपूर्ण ग्रंथ का अर्थ लगाना और इसे केवल उसका ही प्रति-पादक घोषित करना संभव और सरल है। यही कारण है कि गीता की अनेक विद्वानों ने एक दूसरी-से बहुत अधिक भिन्न व्याख्याएं की हैं। संन्यास-मार्गवाले संन्यास और ज्ञानमार्ग को श्रेष्ठ मानकर इसे उनका ही प्रतिपादक सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और इसके कर्म और भक्ति के भाव को गौण और मध्यम श्रेणी के अधिकारियों के लिये बताते हैं। भक्तिमार्गवाले इसे केवल भक्ति का प्रतिपादक मानते हैं और इसके अद्वैत-भाव और एक सर्वात्मा में निवास करने की स्थिति को जो उच्च स्थान दिया गया है उसकी अवहेलना करते हैं। आधुनिक बुद्धिवादी इसे सामाजिक और नैतिक मानव कर्मों का प्रतिपादक कर्मशास्त्र मानते हैं और इसके भक्ति और अध्यात्मभाव की उपेक्षा करते हैं।

गीता के संबंध में एक यह भी विचित्रता देखी जाती है कि वेद और उपनिषदों के समान शान्त एकान्त अरण्य में आध्यात्मिक अनुसंधान करनेवाले गुरु और शिष्यों के द्वारा उसका प्रकाश नहीं हुआ, अपितु युद्धक्षेत्र में युद्ध के लिये तैयार एक योद्धा को, उसके जीवन-संबंधी कुछ कठिनाइयां उपस्थित होने पर, दूसरे योद्धा के द्वारा इसका उपदेश हुआ है। मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से इसका घनिष्ठ संबंध है। अतः गीता के भावों को ठीक प्रकार समझने के लिये सर्वप्रथम तीन बातों का जानना आवश्यक है,—इसके गुरु का व्यक्तित्व, शिष्य का व्यक्तित्व, शिष्य का गुरु से संबंध, और वह परिस्थिति जिसमें उपदेश दिया गया।

गीता के गुरु श्रीकृष्ण हैं। उन्हें गीता और अन्य भारतीय ग्रंथों में अवतार माना जाता है। अवतार का अर्थ है अज, अविनाशी, प्रकृति के अधि-ष्ठाता, समस्त भूतों के प्रभु, सर्वभूतस्थ, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भगवान् का मानव देह धारण करना और मानव कर्मप्रणाली को स्वीकार करना। गीता के उपदेश देनेवाले श्रीकृष्ण कर्मवीर, महायोगी, दुष्टविनाशक, धर्मराज्यसंस्थापक, कुशल राज-नीतिज्ञ, वीर योद्धा, क्षत्रिय-देह में ब्रह्मज्ञानी, जगत्-प्रभु, विश्वव्यापी भगवान् वासुदेव हैं। उन्होंने

---

*यह लेख श्रीअरविन्द के गीता-प्रबंध, योगसमन्वय (The Synthesis of Yoga), गीता की भूमिका, दिव्य जीवन (The Life Divine) आदि ग्रंथों के आधार पर लिखा गया है।

अपने मानव जीवन में अपनी महिमा को, अपने परमभाव को प्रच्छन्न रखते हुए मनुष्यों के साथ पिता, पुत्र, भ्राता, पति, शत्रु, मित्र, राजा आदि संबंध स्थापित करके पृथ्वी पर दिव्य रहस्यमयी लीला की है और महाशक्ति की अनुपम छटा दिखलायी है।

शिष्य अर्जुन है जो कि अपने समय का श्रेष्ठ मनुष्य और मानवजाति का प्रतिनिधि-स्वरूप है। वह श्रीकृष्ण भगवान् का अंतरंग सखा और जिस कार्य को वे करना चाहते हैं उसका चुना हुआ यंत्र और मुख्य पात्र है, यद्यपि इस कार्य का रहस्यमय उद्देश्य उसे विदित नहीं है। वह उद्देश्य केवल उन मानवदेहधारी भगवान् को ही ज्ञात है जो कि पर्दे के पीछे रहते हुए अपने अनंत और अथाह ज्ञान से इसे चला रहे हैं।

अर्जुन क्षत्रिय है। क्षत्रिय का धर्म[1] है प्रजा की रक्षा करना और अन्याय का विरोध करना। अन्याय करनेवालों के साथ युद्ध करके उन्हें पराजित करना और इस कार्य के लिये यदि आवश्यक हो तो युद्ध करते हुए अपने जीवन की आहुति दे देना, कायरतापूर्वक युद्धभूमि से पीठ दिखाकर न भागना।

अर्जुन अपने क्षात्र धर्म का यथाशक्ति पूर्ण सच्चाई के साथ पालन करता रहा है और इसके लिये जहां-तक उससे बन पड़ा उसने कुछ उठा नहीं रखा है। किंतु इस कुरुक्षेत्र-युद्ध के अवसर पर उसके सामने कुछ ऐसी जटिल समस्या उपस्थित हो गयी है कि वह अपने कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्म का ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सका है। वह एक भीषण धर्मसंकट में पड़ा है, उसे तीव्र शोक हो रहा है और वह युद्ध का परित्याग करना चाहता है। यही गीता के उपदेश का प्रसंग है।

अर्जुन के व्यक्तित्व और उसकी इस परिस्थिति को ठीक-ठीक समझने के लिये हमें यह भलीभांति जानना चाहिये कि वह क्यों युद्ध छोड़ना चाहता है? मनुष्य के समस्त कर्म किसी भावना से, किसी फल की कामना से या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही हुआ करते हैं:

"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते।"

और कर्म करते समय जैसी उत्कृष्ट या निकृष्ट, अच्छी या बुरी भावना उसके मन में होती है उसके अनुसार उस कर्म को भी उत्कृष्ट या निकृष्ट, अच्छा या बुरा कहा जाता है और इसके अनुसार ही उसे फल मिलता है। इस भावना का उसके आन्तरिक जीवन से बहुत घनिष्ठ संबंध होता है और इसके अनुसार ही उसके समस्त जीवन का निर्माण होता है। युद्ध जैसा कर्म अनेक प्रकार की भावनाओं से किया जा सकता है, जैसे—आसुरिक तृप्ति के लिये, बदला लेने के लिये, अपने व्यक्तिगत सुख और भोग के लिये, अन्याय के दमन और न्याय की रक्षा के लिये।

जो मनुष्य अपनी प्रचंड कामनाओं के दास होते हैं, अपनी कामनाओं की तृप्ति के लिये अन्यायपूर्वक दूसरोंके धन का अपहरण करते हैं, दंभ, मान, अभिमान और क्रोध के वशीभूत होकर उग्र कर्म करनेवाले होते हैं, दूसरोंकी हानि में ही जो सुख का अनुभव करते हैं, मानो उनका जगत् में आना ही उसके क्षय के लिये हुआ है, वे आसुरिक[2] प्रकृतिवाले कहे

---

[1] क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान्।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्॥
—पराशर

समोत्तमाधमै राजा चाहूतः पालयन्प्रजाः।
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥ —मनु

[2] काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः॥
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥

जाते हैं। अर्जुन सत्त्वप्रधान राजसिक प्रकृति का मनुष्य है। असहाय, दुर्बल और पीड़ितों की रक्षा करना, न्याय की रक्षा करना उसका धर्म रहा है। उसने अपने धर्म के पालन करने में अनेक बार अपने समस्त सुखों का, यहांतक कि राज्य का सुख भी परित्याग कर दिया है और उसके लिये अनेक प्रकार के कष्टों को सहर्ष सहन किया है। वह काम क्रोध आदि का दास नहीं है। उसकी प्रकृति आसुरिक नहीं है। अतः आसुरिक तृप्ति की भावना का दास होकर युद्ध करना उसके लिये संभव नहीं है।

अपने साधारण मान-अपमान या हानि को दृष्टि में रखकर बदला लेने के लिये किये जानेवाले युद्धों से मानवजाति का इतिहास खाली नहीं है। अर्जुन के लिये इसकी संभावना बहुत अधिक मानी जा सकती है। कारण, उसके विपक्षियों ने उस-पर और उसके घनिष्ठ संबंधियों पर अनेक प्रकार के अमानुषिक अत्याचार किये हैं जिन्हें स्मरण करके शांत-से-शांत हृदय भी कुपित हुए बिना नहीं रह सकता। उसके भाई भीम को विष दिया गया, उन्हें लाख के घर में जला देने का षड्यंत्र रचा गया, छल से जूए में उनके राज्य का अपहरण किया गया, उनकी प्रियतमा द्रौपदी को बाल पकड़-कर सभा में लाया गया और नग्न करने का यत्न किया गया, उन्हें तेरह वर्ष राज्य छोड़कर जंगलों में रहने और वहां अनेक प्रकार के कष्ट उठाने को विवश किया गया और उनके राज्य को देने से इनकार कर दिया गया। युद्ध के समय अर्जुन इन अत्याचारों को भूला नहीं है। कारण, वह उन्हें 'आततायी', 'लोभोपहतचेतस्', 'दुर्बुद्धि', मित्रद्रोही कहता है। शास्त्रों में आततायी उसे कहते हैं जो किसी निर्दोष को विष दे, अग्नि से जलावे, शस्त्रप्रहार करे, अन्याय से दूसरोंके धन और भूमि का अपहरण करे, स्त्रियों पर अत्याचार करे। ऐसे व्यक्तियों को मनुस्मृति में मृत्युदण्ड देने का विधान* है। अर्जुन के विपक्षियों में ये सभी बातें विद्यमान हैं। ऐसी अवस्था में अपने ऊपर हुए अत्याचारों को स्मरण करके बदला लेने के लिये युद्ध में प्रवृत्त होना उसके लिये अस्वाभाविक नहीं था। यह मनुष्य की प्राण-मयी सत्ता की निकृष्ट भावना है। किन्तु अर्जुन इस भावना से ऊपर उठ जाता है और बदला लेने के बजाय उसके हृदय में बन्धुत्व का भाव जाग्रत् हो जाता है। वह यहांतक तैयार हो जाता है कि यदि उसके विपक्षी युद्धभूमि में उसपर प्रहार करेंगे तब भी वह कोई प्रतिकार नहीं करेगा।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥१-३७
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥१-४६

अतः बदला लेने की भावना भी उसे युद्ध में प्रवृत्त नहीं करा सकती है।

अपने सुख और भोग के लिये भी मनुष्य युद्ध कर सकता है। यह साहंकार मनुष्य का प्राणिक लक्ष्य है। अर्जुन भी साहंकार प्राणी है। अतः अपने सुख और भोग की भावना से वह युद्ध में प्रवृत्त हो सकता है। वह विजय और राज्य की प्राप्ति के लिये भी युद्ध कर सकता है। क्षत्रिय के लिये युद्ध में विजय और राज्य प्राप्त करना उसका प्राणिक लक्ष्य है। किंतु अर्जुन को ये दोनों ही सदोष दिखलायी देते हैं। वह सोचता है कि ये वस्तुएं अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये प्राप्त करने योग्य नहीं हैं। इन्हें यदि प्राप्त किया जा

---

*अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारहरश्चैव षडेत आततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥

सकता है तो अपने आचार्य, पिता, पुत्र और बंधुओं के लिये ही किया जा सकता है। किन्तु इस युद्ध में तो इनकी हत्या हो जायगी। इनके अभाव में तो मनुष्य जीवित रहना भी पसन्द न करेगा, सुख-भोग की बात तो दूर रही। ऐसा कौन नरपिशाच होगा जो स्वयं अपने हाथों अपने परम पूजनीय गुरु, पिता, पितामह आदि का खून करके राज्यसुखभोग चाहेगा ?

भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ।

अतः अर्जुन को ये लक्ष्य भी युद्ध में प्रवृत्त करने में असमर्थ हैं। (असमाप्त)

—केशवदेव आचार्य

श्री मां, जीवन ज्योति जगा दे !

श्री मां, जीवन ज्योति जगा दे !
ज्योतिर्मय निज अमर स्पर्श से
उर का तमस भगा दे !

दिव्य ज्ञान विज्ञान सूर्य से
मानस कमल खिला दे,
प्रभु चरणों पर अर्पित हो यह
जीवन, शक्ति दिला दे !

जागृत निद्रित सुख दुख में नित
उर में ध्यान लगा दे,
काम शत्रु औ' उस के संगी
दल पर विजय करा दे !

रहूं निरन्तर पद सेवा में
मन वच कर्म उठा दे,
दिव्य ज्ञान औ' दिव्य कर्म से
अन्तर्दल विकसा दे !

मोहन व्याप सके फिर हे मां,
ऐसी ज्योति जगा दे !

—मोहन स्वामी

समर्पण का सौन्दर्य

रामायण के कुछ चित्र

मनुष्य सौन्दर्य की खोज करता है। उसे रस चाहिये। नीरस जीवन उसे सह्य नहीं। इसी चतुर्मुखी खोज में मनुष्य नदी और पर्वत में, आकाश और तारों में, चांद और सूरज में, पशु और पक्षी में तथा मानव के रूप-स्वरूप में रस और सौन्दर्य को खोजता है। इसी खोज के अधीन होकर मनुष्य सुन्दर वस्तु को प्राप्त करना चाहता है, उसका एकाकी स्वामी तथा सेवन करनेवाला बनना चाहता है। इसमें वह अनेक बार आग्रहशील और उतावला हो उठता है तथा क्रूर और कठोरहृदय बनकर अनाचार और अत्याचार भी कर बैठता ह, असुन्दर और कुरूप को रच देता है।

मानव मानव के संबंधों का इतिहास वास्तव में यह बतलाता है कि सौन्दर्य और रस वहां मिलता है जहां आपस के संबंधों में परस्पर समर्पण-भाव होता है, अपनी इच्छा पर आग्रह नहीं बल्कि दूसरे-के हित की प्रेरणा ही एकमात्र प्रवृत्ति होती है।

रामायण ने भारतीय जनता का हजारों वर्षों से अद्वितीय सांस्कृतिक शिक्षण किया है। उसीसे हमारी सामान्य आध्यात्मिक प्रेरणा हमें प्राप्त हुई है। इस महाग्रन्थ में, वास्तव में, जितने मार्मिक स्थल हैं उन सबके अन्दर सौन्दर्य समर्पणभाव का ही है।

दशरथ महाराज निश्चय ही अपने समय के बहुत बड़े राजा थे। समय की मर्यादा के अनुसार अपने पदोचित कर्म-धर्म भी सब करते थे। परंतु पिता के रूप में उनका रामचन्द्र, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न की तरफ भाव सामान्य मोह और गर्व का ही था।

जब विश्वामित्र बालक राम लक्ष्मण को यज्ञ में विघ्न करनेवाले राक्षसों से रक्षा करने के लिये मांगते हैं तो हमें दशरथ महाराज के साथ स्वाभाविक सहानुभूति होती है। हम अनुभव करते हैं कि महर्षि यह मांग न करते तो ही ठीक था। दशरथ न चाहते हुए भी महर्षि से हां कह देते हैं। हमारा दिल कांपता है कि ये किशोर बालक प्रौढ़ महाबली राक्षसों का कैसे मुकाबला करेंगे।

पर बालक राम लक्ष्मण बड़ी तत्परता से तीर कमान बांध प्रसन्नतापूर्वक महर्षि के साथ हो लेते हैं। बन और जंगल लांघते हुए, मार्ग और प्रवास के कष्टों से निर्लिप्त-से यज्ञ की रक्षा के लिये तैनात हो जाते हैं। बड़े-बड़े राक्षसों के वार होते हैं। वे दोनों भय्या दिन-रात उनका मुकाबला करते हैं। यह रामायण का एक प्रारंभिक मार्मिक चित्र है। महर्षि की आज्ञा ही एकमात्र उनकी प्रेरणा थी। इस आज्ञा के सामने कष्ट मानो कुछ सत्ता ही न रखते थे। यही है इस घटना का मर्म, सारी कथा का सार। बालक राम लक्ष्मण का महर्षि-आज्ञा तथा पितृ-आज्ञा के प्रति सहर्ष समर्पण है।

*

श्री रामचन्द्रजी स्वभाव से बड़े दयालु, गुणवान् और पराक्रमी थे। बड़े सत्यवादी, सरल तथा मधुरभाषी भी थे। अतएव समस्त प्रजा के प्रिय हो गये थे।

अपने पुत्र राम को अनेकों अनुपम गुणों से युक्त देख और लोकप्रिय जान राजा दशरथ के मन में अपने जीते जी राम का राज्याभिषेक करने की उत्कण्ठा हुई। राजा का इस प्रस्ताव को प्रजा

के सम्मुख रखना था कि चारों ओर से स्नेहमयी हर्षध्वनि ने उनके प्रस्ताव का समर्थन किया। बस फिर क्या था, राजतिलक की तैयारी होने लगी।

अपने राजतिलक का समाचार पाकर रामचन्द्रजी के मन में कोई विशेष प्रसन्नता या उल्लास के चिह्न प्रकट न हुए। वे तो सदैव की भांति सरल और प्रसन्न दीख पड़ते थे। महाराज दशरथ राज्याभिषेक की तैयारी के लिये आज्ञा देकर अपनी छोटी रानी कैकेयी के पास प्रिय संवाद सुनाने के लिये गये। उन्हें कैकेयी को यथास्थान न पाकर खेद हुआ और वे पूछ-ताछ करने लगे। कैकेयी का कोपभवन में होना सुन राजा को अतीव दुःख हुआ। राजा प्रेम के साथ उसके दुःख का कारण पूछने लगे। वे न जानते थे कि यह कोई स्वार्थ सिद्ध करने के अभिप्राय से स्वांग रचे हुए है। उनके खुशामद करने पर उसे कुछ सांत्वना मिली और उसने उन्हें अपनी इच्छित बात कही। उसने कहा– "मैं अपने बेटे भरत को राजगद्दी पर देखना चाहती हूं। उसीका ही राज्याभिषेक हो, राम का नहीं। यह सब तैयारी उसके लिये ही काम में आवे। राम को चौदह वर्ष का वनवास हो, और वे अभी बिना विलंब बन को भेज दिये जायं। ये दो बातें मैं अपने वरदानों में मांगती हूं और आपको पूरी करनी होंगी।"

कैकेयी के कठोर वचन सुनकर महाराज दशरथ एकदम स्तब्ध से रह जाते हैं और तत्क्षण मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं। मूर्च्छा टूटने पर राजा दशरथ कैकेयी को कई प्रकार से गुस्से तथा प्यार से समझाने की चेष्टा करते हैं। परंतु वह सब चिकने घड़े पर पानी की तरह निष्फल होती है। स्वार्थपरायणा कैकेयी अपने हठ से नहीं टलती। उसे उसके राग-द्वेष ने इतना अंधा बना दिया था कि वह अपनी लाभ-हानि की बात भी न सोच सकती थी। राजा दशरथ की वह अवस्था अत्यंत गंभीर थी। पर उस समय कैकेयी को इसकी भी कुछ चिन्ता न थी। ठीक तभी वह उनसे कहती है कि "आप तो डींग मारा करते थे कि मैं बड़ा सत्यवादी और दृढ़प्रतिज्ञ हूं।"

वह सारी रात राजा की तड़पते बीती। प्रातः होते ही रामचन्द्रजी को बुलवाया गया। पिता को हीन तथा व्याकुल अवस्था में देख वे उनके दुःख का कारण पूछने लगे। कठोरहृदया कैकेयी ने सारी अपने मतलब की बात कह सुनायी। परंतु कैकेयी के कठोर और अप्रिय वचन सुनकर राम को किंचित् भी शोक नहीं हुआ। "बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा" कहकर उन्होंने कैकेयी को आश्वासन दिया। बल्कि तत्पश्चात् बहुत जल्दी ही वे सीता और लक्ष्मण सहित, वनवासियों के रूप में उसी अयोध्या नगरी से जहां कि उनके अभिषेक की तैयारियां हो रही थीं, प्रस्थान करते दीख पड़ते हैं।

रामायण में यह प्रसंग, निश्चय ही, केन्द्रीय है। इस एक प्रसंग में, वास्तव में, दो अपूर्व दृश्य हैं, पर एक दूसरेसे बिलकुल विपरीत। एक तरफ कैकेयी का स्वार्थ, हठ, राग, द्वेष, और ईर्ष्या और दूसरी तरफ राम की विशालता, निःस्वार्थता, त्याग, आज्ञापालन, समर्पणभाव।

*

पिता के घर की दुर्घटनाओं का आभास सत्यवादी भरत को नाना के घर में ही होने लग गया था। अयोध्या पहुंचकर जब उन्होंने पिता की मृत्यु और राम लक्ष्मण तथा सीता का वन जाना सुना तो बहुत दुखी हुए और बिलख-बिलखकर रोने लगे।

परंतु राज्य के लोभ से मोहित तथा स्वार्थपरायणा कैकेयी भरत को छाती से लगा, मस्तक सूंघ राज-संबंधी चर्चा करने लगी। पर भरत का हृदय दुख से भरा हुआ था। उसने अपनी माता को उसके व्यवहार के लिये अनेक प्रकार से शर्मिन्दा किया। उसने कहा कि मैं श्रीराम को लौटाकर लाऊंगा और उन तपस्वी का दास बनकर जीवन व्यतीत

करूंगा। तत्पश्चात् भरत माता कौशल्या को मिलने जाते हैं। वहां दोनों ही विलाप करते हैं। पर भरत तरह-तरह की शपथों द्वारा आर्त कौशल्या को आश्वासन देते हैं। और फिर गुरु वसिष्ठ की आज्ञा से यथाविधि पिता का दाह-संस्कार करते हैं।

पिता की अन्त्येष्टि-क्रिया आदि से निवृत्त होकर भरत राम को लौटा लाने के लिये प्रस्थान करते हैं। भरत का राम के प्रति प्रेम और त्याग देखकर समस्त नगरनिवासी उनकी सराहना करते हैं, और उनके साथ राम को लौटा लाने के लिये तत्पर हो जाते हैं। यह भी एक अपूर्व दृश्य है।

दूर से प्रिय भाई राम को जटाएं रखे और वल्कल वस्त्र धारण किये हुए देख भरत अत्यंत शोक और मोह में डूब जाते हैं और दृष्टिमिलन होते ही आर्त भाव से विलाप करते हुए अपनेको कई तरह से धिक्कारते हैं। पर तपस्वी राम भरत को उठा, छाती से लगा, अपने पास बिठा सब कुशलक्षेम पूछते हैं। भरत भी अपनी अज्ञानता की सफाई करते हुए उनसे वापिस चलने का अनुरोध करते हैं। परंतु जब राम किसी प्रकार भी अपनी प्रतिज्ञा से टलते दिखायी नहीं देते तो भरत उनकी पादुकाएं ले लेते हैं और उनसे कहते हैं कि मैं भी आपकी तरह चौदह वर्ष तक जटा तथा वल्कल धारण कर और फल-मूल खाकर आपके आने की प्रतीक्षा में दिन बिताऊंगा। यदि आप ठीक चौदह वर्ष के दूसरे दिन न पहुंचे तो मैं प्राण त्याग दूंगा।

तपस्वी राम तो बन में रहते ही थे, उनके आस-पास तो किसी सुखसामग्री का साज था ही नहीं और न आकर्षण ही, पर कितना उत्कट है भरत का त्याग। उन्होंने नगर में रहते हुए भी समस्त सुखों तथा नाना प्रकार के भोगों का परित्याग कर चौदह वर्ष फल-मूल खाकर धरती को शय्या बनाकर तपस्या में बिताये।

*

श्री राम और सीता की कथा के साथ हनुमान्जी का नाम अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। हर बार रामायण की कथा के अन्त में वीर हनुमान् को स्मरण किया जाता है।

कारण क्या है? हनुमान्जी का श्री राम के प्रति आदर्श सेवाभाव, उनकी अटल भक्ति और निरन्तर तत्परता। वे हमारे लिये सेवा-आदर्श की प्रतिमूर्त्ति हैं, क्रियात्मक समर्पण का परम दृष्टान्त हैं।

*

लंकायुद्ध की समाप्ति पर रामायण का विशेष मार्मिक दृश्य देखने में आता है। रावण मारा जाता है तथा शत्रु-सेना खण्डित हो जाती है। श्री सीता उत्साह और प्रेम की मूर्त्ति श्री रामजी के सामने आती हैं। पर राम तो मर्य्यादापुरुषोत्तम ठहरे। वे सीता को जो पराये पुरुष के यहां इतना समय रह चुकी हैं कैसे बिना विधिवत् परीक्षा के स्वीकार कर लेते। अग्निपरीक्षा का विधान होता है, सीताजी तैयार हो जाती हैं। उस समय की उनकी भावना को यदि हम अनुभव कर पायं तो हम त्याग और प्रेम की एक अपूर्व छवि देख सकेंगे।

रामायण के विस्तारपूर्ण इतिहासग्रन्थ में, वास्तव में, जगह-जगह प्रेम और समर्पण के रसपूर्ण दृष्टान्त मिलते हैं। कैकेयी का व्यवहार तथा रावण का राक्षसी राज्य इस प्रेम, समर्पण और शुद्ध बुद्धि के दिव्य गुणों को और भी चमका देते हैं। सीताजी का अपनी जननी धरती-माता को स्मरण करना और उसमें समा जाना रामायण की भावना की चरम आहुति है। इसका तथा अन्य आहुतियों का स्मरण कितना प्रिय है, रामायण कितनी रसपूर्ण है।

—रामेश्वरी देवी

श्रीअरविन्द-दर्शन

विचार-धारा २

श्रीअरविन्द-दर्शन— विहंगम-दृष्टि

(१)

मानव का सामान्य अनुभव अनेक विरोध उपस्थित करता है। घास दिन में हरी प्रतीत होती है तो रात को काली। सीपी में चांदी दिखायी देती है परंतु वहां वह होती नहीं। मरुस्थल में मरीचिका एक प्रत्यक्ष दृश्यमान वस्तु होती है परंतु वह कभी छूई नहीं जा सकती। मनुष्य घनिष्ठ रूप से अपनी इच्छाओं को अनुभव करता है, उनके लिये भरसक यत्न करता है, परंतु वे पूरी नहीं होतीं, उसे बार-बार खिन्नता होती है। धन, मान, शक्ति, विद्या, जीवन के प्रत्युत्तर में उसे सदा धनाभाव, अपमान, असमर्थता, अज्ञान और मृत्यु की आशंका रहती है। जिज्ञासु मानव सोचता है, गंभीर चिन्तन करता है, अपने अनुभव के क्षेत्र को अधिकाधिक विस्तार और गाम्भीर्य देता है, वह अपने सामान्य अनुभव के विरोधों में समस्वरता को खोजता है। वास्तव में दार्शनिक जिज्ञासा का लक्ष्य है भी उत्तरोत्तर वस्तुओं की समस्वरता तथा परस्परसंबद्धता और संगठन की यथार्थ मर्यादा को जानना तथा अनुभव करना। श्रीअरविन्द के शब्दों में "all problems of existence are essentially problems of harmony.—सत्ता के सभी प्रश्न सारतः समस्वरता के प्रश्न हैं।" इन्द्रियानुभवों के विरोधाभासी संवेदनों और वस्तुबोधनों में, बुद्धि के विपरीत अनुमानों व परिणामों में, सामान्य अनुभवों और असामान्य अनुभवों में, इच्छाओं और उनकी पूर्त्ति-अपूर्त्ति में, प्रयत्नों और उनकी सफलता-असफलता में, इनके एक-एक में अथवा आपस में एक दूसरेमें अथवा सबमें क्या संबंध हैं? ठीक यही मानव की जिज्ञासा के विषय हैं। व्यवहार-ग्रस्त व्यक्ति इन संबंधों को जानने में प्रायः वहीं-तक रुचि रखता है जहांतक कि उसे उनकी अपने जीवन के क्रियात्मक उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये आवश्यकता होती है। किंतु दार्शनिक और योगी उन्हें शुद्ध ज्ञान और जीवन-विकास के लिये अधिगत करना चाहते हैं। उनके लिये ज्ञान और जीवन-विकास किसी और ध्येय के लिये—धन, मान, प्रभाव आदि के लिये—नहीं होते, बल्कि स्वयं ज्ञान और जीवन-विकास के लिये होते हैं। मानव इतिहास में ऐसी शुद्ध जिज्ञासा के अन्तिम आविष्कार, वास्तव में, बार-बार जो देखने में आते हैं वे हैं—आत्मा, परमात्मा, अमरत्व, पूर्णत्व तथा विशुद्ध आनन्द। मानव की जिज्ञासा दस बार कभी खिन्नता और अधीरता में, कभी नये अनुभवों की प्रेरणा में, संदेहवाद, जड़वाद, प्रकृतिवाद, प्रत्यक्षवाद आदि मानसिक दिशाओं में दौड़ लगाती है। परंतु देखने में आता है कि वह लौटकर फिर-फिर आत्मा, परमात्मा, पूर्णानन्द आदि अन्तिम तथ्यों में ही संलग्न होती है और वहीं विशेष स्थायी तृप्ति मानती है।

यदि मानवजाति के ये पुनरावर्त्ती परम अनुभव तथा आदर्श और उद्देश्य सत्य हैं तब हमारे सामान्य जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या है ? हमारे व्यावहारिक जीवन में तो अमरता नहीं मृत्यु है, पूर्णा-

नन्द नहीं, सुख के साथ दुख और क्लेश सदा लगे हुए हैं, आत्मा की जगह शरीर-प्राण-मन-रूपी मानव है, सर्वव्यापक परमात्मा की जगह तो जड़ प्रकृति के वैश्व व्यवहार ही हैं। यदि वे आदर्श सत्य हैं तो यह जीवन असत्य है और यदि यह प्रत्यक्ष जीवन सत्य है तो वे आदर्श सत्य नहीं हो सकते। भला ये दोनों एक साथ कैसे सत्य हो सकते हैं ?

ये दर्शन की दो प्रधान ऐतिहासिक और प्रामाणिक मान्यताएं हैं, एक जड़वाद और दूसरी आत्मवाद। जड़वाद भौतिक अणुओं-परमाणुओं को ही भौतिक, सत्ता मानता है, प्राण और मन उन्हींसे उपजे बतलाता है। आत्मवाद जड़ जगत् को मिथ्या कहता है; आत्मतत्त्व को, सर्वव्यापक चैतन्य को, ही सत्य मानता है।

श्रीअरविन्द की यह एक प्रारंभिक मान्यता है कि अनुभव ही दर्शन का स्रोत और आधार हैं। इसे हम अथक भाव में विचारेंगे तथा किसी प्रकार की सीमाओं में बांधेंगे नहीं। इसे हम उपनिषदों के ऋषियों की भावना में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय सभी रूपों में अंगीकार करेंगे। इसके एक एक अंग को तथा एक एक घटना को स्वीकार करेंगे। किसीको भी मिथ्या नहीं कहेंगे, क्योंकि जो वस्तु किसी अनुभव के क्षेत्र में अस्तित्व रखती है वह मिथ्या कैसी ! जगत् जाग्रत् अनुभव का अचूक सत्य है। उसे हम झूठा कैसे कहें ? हम किसी भी अनुभव को झूठा कहकर अपना दार्शनिक उत्तरदायित्व अनुचित रूप से हलका नहीं करना चाहेंगे और तबतक अपनी गवेषणा में लगे रहेंगे जबतक कि अनुभव के सभी क्षेत्रों के सभी अंगों को यथार्थ समस्वरता में न ले आयंगे।

प्रत्यक्ष ही श्रीअरविन्द के लिये सर्वव्यापक सत्ता का स्वरूप किसी भी प्रकार का द्वैत नहीं हो सकता, वह निश्चय ही अद्वैत होगा। परंतु वह शंकरवादी अद्वैत नहीं हो सकता, क्योंकि उनके लिये जगत् तो सत्य है। और यदि जगत् सत्य है तो सगुण सत्ता सारी सत्य होगी और उसके साथ मानवी व्यक्तित्व भी। यह स्थिति, निश्चय ही, निर्गुण ब्रह्मवाद से बहुत भिन्न है। है तो यह ब्रह्मवाद ही, परंतु इसमें सगुण सत्ता का पूरा समावेश है। परंतु इसे हम सगुण ब्रह्मवाद नहीं कह सकते, क्योंकि सगुण सत्ता ब्रह्म में समाविष्ट है, ब्रह्म उस सत्ता में परिसमाप्त नहीं हो जाता। उसका निर्गुण परात्पर स्वरूप भी है। वास्तव में, यह ब्रह्म संपूर्ण अन्तिम सत्ता होने के रूप में जरूर ही निरपेक्ष, केवल सत्ता होगा और किसी प्रकार की सीमा के अधीन नहीं होगा। हमारे मानवी विचारों के जितने उच्चतम द्वन्द्व हैं वह उनसे परे होगा। उसमें वे द्वन्द्व समन्वय ही नहीं बल्कि परस्परपूरक-भाव को प्राप्त हो जायंगे। यह केवल के केवलत्व का परिणाम मात्र है। वह ब्रह्म सगुण है और निर्गुण भी, वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक भी, सदा पूर्ण तथा विकसनशील भी, सत् तथा असत् भी। वह हमारी सब द्वैतात्मक धारणाओं का आधार है। वह, निश्चय ही, उन सबसे परे होना चाहिये। उसमें वे सब द्वैत अनिवार्य रूप से पूरक-भाव को प्राप्त होने चाहियें। संपूर्ण सत्ता का स्वरूप, वास्तव में, अचिन्त्य है, अगम्य है। इस ब्रह्मवाद को सर्वांगीण ब्रह्मवाद कहना ही उचित रहेगा।

संपूर्ण सत्ता के स्वरूप की धारणा बनाने में दार्शनिक बहुधा सामान्य न्याय और युक्तिशास्त्र के विचारों को, जो कि देशकालसीमित पदार्थों की मर्यादा बांधने में उपयुक्त हैं, देशकालातीत परम सत्ता पर भी आरोपित करने लगते हैं। यह हम कह सकते हैं कि यह कुछ अज्ञात रूप में ही होता है, परंतु इसका फल दार्शनिक दृष्टि से बड़ा अनिष्टकर होता है। अन्तिम सत्ता या तो बौद्धों का शून्य बन जाती है या शंकराद्वैत का निर्गुण ब्रह्म या वह और किसी प्रकार की एकांगी वस्तु बन जाती

है और या फिर यह प्रत्यक्ष जगत् सब कुछ हो जाता है, अन्तिम सत्ता अस्वीकार ही कर दी जाती है। पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों के इतिहास में इस वृत्ति से जो कठिनाइयां पैदा हुई हैं वे किसी से छुपी नहीं। परंतु श्रीअरविन्द की ब्रह्म की धारणा दर्शन के लिये, वास्तव में, एक अपूर्व विचार है। किंतु श्रीअरविन्द-दर्शन में जो हमें विशेषतः देखना है वह यह कि वे जगत् और मानव व्यक्ति का अपने ब्रह्म के साथ कैसे संबंध बिठाते हैं? अथवा जगत् के भौतिक, प्राणिक और मानसिक स्तरों की मर्यादा क्या ठहराते हैं? संसार के दुख-ताप का समाधान क्या करते हैं? पूर्ण ब्रह्म में अपूर्णता और अविद्या का क्या स्वरूप बतलाते हैं?

एकमेव ब्रह्म के विचार के विशेष कष्ट ही बहुत्व का स्थान और स्थिति, दुख-ताप, अविद्या आदि होते हैं, क्योंकि केवल ब्रह्म तो पूर्ण सत्ता ठहरा। उसमें ये अपूर्णता के लक्षण कहांसे आये? इन्हीं-का समाधान ही श्रीअरविन्द-दर्शन में हमें विशेष रूप से देखना है।

श्रीअरविन्द का ब्रह्म, वास्तव में, सत्ता की परा-काष्ठा-रूप है। वह नितान्त परम है, अचिन्त्य और अगम्य है। परंतु मानव अपनी प्रकृति और स्वभाव के नाते एक निकटतर सत्ता को अधिगत करता है। यह सत्ता उसके जीवन का मूर्तिमान् आदर्श तथा आकर्षण है। वह सत् है, वह चित् है, वह आनन्द है। यह पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता उसका ईश्वर है, परमात्मा है। यही सत्ता जगत् की रचयित्री है। मनुष्य के ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिविध गतियों की उसमें परिपूर्णता है। क्रियात्मक रूप में मनुष्य के लिये वही उच्चतम सत्ता है। श्रीअरविन्द कहते हैं "वैदान्तिक ऋषि जब सच्चिदानन्द-विषयक इस विचार पर, इस निश्चायक अनुभव पर पहुंच चुके कि वह हमारी चेतना के लिये सद्वस्तु की उच्च-तम भावात्मक अभिव्यक्ति है तो उसके बाद भी उन्होंने अपनी परिकल्पनाओं में असत् को ला खड़ा किया अथवा अपनी बोधनाओं में वे असत् की ओर बढ़ते गये।"* इस असत् और सच्चिदानन्द-रूपी सत् के आत्यन्तिक विरोधों के समन्वय का क्षेत्र वह ब्रह्म है। परंतु श्रीअरविन्द कहते हैं "विश्व के अन्दर इस सद्वस्तु का सर्वोच्च अनुभव यह सिद्ध करता है कि वह सद्वस्तु न केवल चिन्मय सत् मात्र है, अपितु परम प्रज्ञा और शक्ति तथा स्वयंभू आनन्द भी है; और विश्व के परे वह फिर भी कोई अन्य अज्ञेय सत्ता, कोई आत्यन्तिक एवं अनिर्वचनीय सत्ता है।"†

सामान्यतया सच्चिदानन्द की धारणा अपने-आपमें अन्तिम दिखायी देगी। और उससे परे के असत् के विचार में तथा सत् असत् के समन्वय-रूप ब्रह्म के विचार में कष्ट अनुभव होगा। परंतु जहां मानव जिज्ञासा असीम को असीम भाव में खोजती है, जैसे कि उपनिषदों के ऋषियों ने किया था, तब ये परिणाम अनिवार्य हो जाते हैं। वे मानवी चिन्तन की मांग हैं तथा मानवी उच्चतम तुरीय अनुभव के प्रत्यक्ष सत्य हैं।

परन्तु मानवी चेतना के साक्षात् संबन्ध से सच्चि-दानन्द ब्रह्म ही है, वह पूर्ण निरपेक्ष सत्ता है। इस-की धारणा को हमें जरा और स्पष्ट करना होगा। श्रीअरविन्द कहते हैं "जब हम अपनी दृष्टि को सीमित तथा क्षणिक स्वार्थों में उसकी अहंभावमयी व्यस्तता से हटाते हैं और केवल परम सत्य की खोज करनेवाली रागशून्य तथा कुतूहलपूर्ण दृष्टि के साथ संसार का अवलोकन करते हैं तो इसके

---

*दि लाइफ डिवाइन, भाग १, पृ. ५३।

†वही ग्रन्थ, पृ. ४९।

परिणामस्वरूप जो सर्वप्रथम प्राप्ति हमें होती है वह है अनन्त सत्ता, अनन्त गति, अनन्त क्रिया की एक ऐसी अपार शक्ति का बोध जो कि असीम देश में, नित्य काल में अपने आपको उंडेल रही है।"* इस प्रकार हम एक अनन्त शक्ति और गति का अनुभव करते हैं। परन्तु क्या यह शक्ति ही सत्ता है या यह शक्ति किसी सत्ता की अभिव्यक्ति है? वास्तव में दोनों विचार ही अनिवार्य दिखायी देते हैं। सत्ता (Being) भी और संभूति (Becoming) भी। **एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति,** एक ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं–दर्शन का एक महावाक्य है। परन्तु इसके साथ ही विचारने योग्य एक और महावाक्य भी है। वह है **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**–निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है। इन दोनोंको हम अलग-अलग नहीं ले सकते, इनमें परस्परपूरकता का संवन्ध है।

इस प्रकार वह शुद्ध सत् ही जगत् में भी अभिव्यक्त हो रहा है। परन्तु यह जड़ प्रकृति तो उस सत् की नितान्त खण्डन प्रतीत होती है। मनुष्य की मानसिक चेतना भी अज्ञान और दुख-ताप में ग्रस्त है। प्रश्न पैदा होता है कि यह उस शुद्ध सच्चिदानन्द-रूपी ब्रह्म की अभिव्यक्ति कैसे? पहले तो सामान्य अनुभव के प्रमाण पर यह कहना कठिन है कि वास्तव में कुछ जड़, नितान्त अचेतन है भी या नहीं। प्राणी और उद्भिज में कहीं बंटवारे की पक्की लकीर खींचना संभव नहीं। डा. जे. सी. बोस ने अपनी गवेषणा द्वारा जो सिद्ध किया उससे पता चलता है कि पेड़-पौदों में ऐसी प्रतिक्रियाएं मौजूद हैं जो प्राणी के व्यवहार के साथ बड़ी समता रखती हैं। फिर उद्भिज और धातु की क्रिया-प्रतिक्रियाएं ऐसी मिली-जुली हैं कि इन्हें निश्चयात्मक दो श्रेणियों में नहीं बांटा जा सकता। इसी प्रकार धातु और शेष सामान्य जड़ प्रकृति में अन्तर करना कठिन है। इस प्रकार मानव-चेतना, पशु-चेतना, वनस्पति की प्रतिक्रिया, धातु की प्रतिक्रिया और प्रत्यक्षतः नितान्त जड़ पदार्थ में एक क्रम है, एक अटूट सिलसिला है। जब हम इस शृंखला की अटूट कड़ियों को विचारपूर्वक और धीरज से देखते हैं तो हम अनिवार्य रूप से अनुभव करते हैं कि हमारे जगत् के विस्तृत अनुभव में कहीं हमें दो ऐसे पदार्थ नहीं मिलते जो एक दूसरेसे सर्वथा विरोधी हों। आखिर जड़ प्रकृति भी तो प्राकृतिक नियमों की मर्यादा को स्वीकार करती है। यानी वह चेतना के संपर्क को ग्रहण करने की शक्ति रखती है। जरूर ही, मूल में वह चैतन्य-तत्त्व से सहानुभूति रखती है, उसीका परिवर्तित स्वरूप है।

परन्तु प्रश्न पैदा होगा कि उस सत् और चित् ब्रह्म के ये नदी-पर्वत, वनस्पति, पशु, मनुष्य आदि परिवर्तित रूप क्यों बने? इनका क्या प्रयोजन हो सकता है? श्रीअरविन्द प्रश्न उपस्थित करते हैं "भला ब्रह्म को,–पूर्ण, निरपेक्ष, अनन्त, निरीह, निष्काम ब्रह्म को अपने अन्दर ये नानारूपमय लोक पैदा करने के लिये चेतना की शक्ति को बाहर फेंकना ही क्यों चाहिये?"† एक ही वाक्य में वे यूं उत्तर देते हैं "तो, यदि, गति करने अथवा नित्य निश्चल रहने में, अपने आपको रूपों में प्रकट कर डालने या रूप की गर्भित शक्ति को अपने अन्दर धारित रखने में स्वतन्त्र होता हुआ भी, ब्रह्म गति तथा रचना की अपनी शक्ति को तृप्त करता है तो ऐसा केवल एक ही हेतु से हो सकता है, आनन्द के हेतु से।"‡ अतः जगत् का सारा व्यवहार आनन्द

---

*वही ग्रंथ, पृ० १०८।

†वही ग्रंथ, पृ० १३७।　‡वही ग्रंथ, पृ० १३७।

के लिये है। इसके अनन्त रूप और गतियां अनन्त प्रकार से आनन्द-वृद्धि के ही साधन हैं। परन्तु यह कहना क्या व्यावहारिक मानव के साथ उपहास करना नहीं? वह तो अनेक प्रकार के दुख और संकटों से घोर पीड़ित है, वह भला कैसे यह स्वीकार करे कि ये व्याधि-रोग, दुख-संकट, व्यक्तिगत तथा सामूहिक, सब वास्तव में आनन्द की उतरती-चढ़ती लहरें ही हैं।

निश्चय ही, विषय को स्वतन्त्र भाव से विचारने के लिये हमें अपनी अहंकारमयी दृष्टि से जरा तटस्थ होकर देखने का यत्न करना होगा। मुझे यह भावना छोड़नी होगी कि संसार का केन्द्र मैं हूं और मेरी क्षणिक इच्छाएं ही इसमें विशेष महत्त्व की हैं। हमें निर्वैयक्तिक रूप से संसार को विचारना होगा। निश्चय ही, संसार में दुख से सुख अधिक है, तभी तो हमें जीवन में रुचि है, उससे मोह है। फिर क्योंकि दुख हमें विशेष चुभता और अखरता है इसका क्या यह कारण नहीं कि दुख हमारी प्रकृति के लिये असाधारण है, साधारण स्थिति सुख की है। इस संबंध में, वास्तव में, यौगिक अनुभव का प्रमाण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह यह कि व्यक्ति दुख को आनन्द में परिवर्तित कर सकता है। सुख दुख की अनुभूतियां हमारे उथले मानस-तत्त्व की अभ्यासजन्य प्रतिक्रियाएं हैं। हम गंभीर स्थिति में स्थित होकर उन्हीं संपर्कों में एकरस आनन्द भी अनुभव कर सकते हैं। यह अनुभव दार्शनिक विचार के लिये अत्यंत महत्त्व का है। इसमें, वास्तव में, सब प्रकार के दुख-ताप का समाधान निहित है।

अच्छा मान लिया कि मूल में सारा चराचर जगत् आनन्द का समुद्र है। परंतु प्रतीति में भी इसमें दुख क्यों है? यह प्रश्न तो फिर भी उठेगा ही। श्रीअरविन्द कहते हैं कि इस प्रश्न को हमें इस प्रकार उपस्थित करना चाहिये कि "केवल तथा अनन्त सत्-चित्-आनन्द ने अपने अन्दर उस वस्तु को प्रवेश ही कैसे करने दिया जो कि आनन्द नहीं, जो कि इसका निश्चित खण्डन-रूप प्रतीत होती है।"*

श्रीअरविन्द का उत्तर है कि सच्चिदानन्द आत्म-विभाजन द्वारा देशकालाबद्ध जगत् को रचता है। यह आत्म-विभाजन विभिन्नता और विभिन्नता में पुनः आत्म-एकता को प्राप्त करने के आनन्द के लिये ही हो सकता है। विभक्त अवस्था से पुनः आत्म-प्राप्ति की प्रक्रिया में, जो कि जगत्-विकास का क्रम है, सुख-दुख एक विशेष अवस्था का धर्म है। अहंकारमय प्राणी बहिर्मुख भाव में वस्तुओं के उथले संपर्कों में कभी सुख कभी दुख और कभी सामान्य भाव, न सुख न दुख, अनुभव करता है। ठीक उन्हीं अवस्थाओं में यदि वह उथले और बहिर्मुख भाव को त्याग दे, अपने गंभीर भाव में स्थित होकर वस्तुओं के गंभीर भाव का संपर्क प्राप्त करे तो वह विशुद्ध आनन्द को अनुभव करेगा। अतः सुख-दुख आत्म-विभाजन और आत्म-विस्मृति की एक दशा के सहचारी गुण हैं, जो कि आत्म-प्राप्ति के क्रम में अनिवार्य रूप से अतिक्रान्त हो जाने अवश्यम्भावी हैं।

इस प्रकार जगत्, वास्तव में, सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति है। या जैसे श्रीअरविन्द कहते हैं "वस्तुओं की आत्मा है अनन्त अविभाज्य सत्ता; उस सत्ता की मूलभूत प्रकृति या धर्म है आत्म-सचेतन सत्ता की अनन्त अक्षय शक्ति; और, फिर, उस आत्म-सचेतनता की मूलभूत प्रकृति या उसका स्वविषयक ज्ञान है सत्ता का अनन्त अविच्छेद्य आनन्द।"†

—इन्द्रसेन

*वही ग्रन्थ, पृ० १४३। †वही ग्रन्थ, पृ० १५१।

प्रश्न इंगित

किसकी लय में घूम घूम
   बन गए स्वयं तुम भास्वर
ओ नीरव नीहार, ज्योति
   पिंडों में अगणित हँसकर ?

कौन सत्य वह, महाशून्य
   तुम जिससे गर्भित होकर
महा विश्व में गए बदल
   धारण कर निखिल चराचर ?

किसके बल से पंच भूत ये
   सतत कर्म में तत्पर,
शब्दित नभ, चल अनिल,
   द्रवित जल, दीप्त अग्नि, भू उर्वर ?

पद्म पत्र पर तुहिन बिन्दु सा
   हँसमुख, चंचल, सुन्दर,
किसने जीवन का सम्मोहन
   दिया मर्त्य भव में भर ?

कौन मृत्यु के अंध तमस को
   अमृत स्पर्श से छूकर,
स्वर्ण चेतना से निज, जग का
   करता नव रूपांतर ?

–सुमित्रानंदन पंत

दूर – कहीं—

दूर–कहीं दीपक जलता है !
जिसे देखकर भटका राही आशा के पथ पर चलता है !

ऊपर नीचे अन्धकार है,
हुआ जगत् सब निराकार है ;
कृष्ण मलिनता में, प्रकाश की कोमल-सी यह निर्मलता है !

वार-वार इस दीप-शिखा पर
आँखें क्यों टिकती हैं जाकर ?
इसकी लौ में जाग रही क्या स्नेह-हृदय की विह्वलता है !

रवि के आने तक जल-जलकर
यह प्रकाश करता धरती पर,
जितना स्नेह जले दीपक में, होती उतनी उज्ज्वलता है !

लघुता है यह या कि बड़प्पन ?
जलना यह मरना या जीवन ?
दीपक में कवि की प्रतिभा की टिम-टिम करती चञ्चलता है !

–वंशीधर विद्यालङ्कार

आशा को चैतन्य करो हे !

मिलन कामना को सरसाकर
जीवन का मालिन्य हरो हे !

जीर्ण-शीर्ण जग पुलिन ध्वंस हो
जगती से दुःख लास नाश हो
मानव भौतिक से लड़ता हो
रन्ध्र-रन्ध्र से विजय आश हो

उत्पथ पर चढ़ता समाज हो
जड़ तक में संसृति विकास हो
परवशता सब पराभूत हो
ज्योति-पुंज पर नर-निवास हो

मर्त्य-भुक्त ज्योतित जीवन से
पावन-जीवन धन्य करो हे !

—बालमुकुन्द मिश्र

संपादकीय–

विचार और अभीप्सा

आध्यात्मिक शिक्षण

आज विज्ञान का युग है, मानव प्रकृति के रहस्यों को अधिकृत करना चाहता है, वह सर्वतः वहिर्मुख हो रहा है। आज की संस्कृति भी वैज्ञानिक संस्कृति है। मानव विज्ञान-आविष्कृत यंत्रों तथा साधनों का उपयोग जानना चाहता है। ये यंत्र और साधन ही मानव मानव के तथा राष्ट्र राष्ट्र के संबंधों को भी निर्धारित करते हैं। परमाणु बम्ब एकको सर्वोच्चता दे रहा है और दूसरोंको अधीनता के लिये बाधित कर रहा है। मानव की निज शुद्धाशुद्ध आन्तर स्थिति आज उसकी संस्कृति का मानदण्ड नहीं। सारा दृष्टिकोण ही वहिर्मुख है।

वर्तमान युग में समाज-संगठन के विषय पर भी काफी विचार हुआ है। कार्लमार्क्स इसके विशेष प्रवर्तक हैं। परंतु यह विचार भी मानव को विज्ञान के यंत्र और साधन के रूप में ही कल्पित करता है। एक श्रेणी दूसरी श्रेणी का शोषण न करे और सर्वसाधारण सुयोग्य और सबल होकर मशीन के पुरजों की तरह अपना अपना काम करते हुए राष्ट्र को बलशाली बनावें–यही समाज-संगठन का आधुनिक वैज्ञानिक विचार है। इसमें, प्रत्यक्ष ही, राष्ट्र की बलशालिता उद्देश्य है, व्यक्ति का निज सांस्कृतिक विकास अपने आपमें लक्ष्य नहीं। सारी विचार-धारा वहिर्मुखी है। श्रीअरविन्द ने कहा ही है, "मानव आज अपनी आन्तरिक स्थिति में उतना ही अव्यवस्थित है जितना कि आदि-मानव बाह्य परिस्थिति में था।" वर्तमान युग का सारा प्रयत्न रहा ही बाह्य संगठन का है–प्राकृतिक परिस्थिति को जीतने का तथा मानव-समाज के पुनः संगठन करने का। आन्तरिक सांस्कृतिक उपलब्धि गौण रूप से जितनी प्राप्त हो गयी है उतनी ही हमारी आज की सांस्कृतिक प्राप्ति है।

मन और बुद्धि स्वभावतः ही हमारी बहिर्मुखी वैज्ञानिक संस्कृति के प्रधान साधन हैं। इन्हींसे प्रकृति के रहस्यों की खोज की जाती है।

ऐसे सांस्कृतिक वातावरण में शिक्षा की मर्यादा संवेदनों तथा विचारों का संग्रह और संगठन-रूप ही होगी। कुछ आश्चर्य नहीं जो आज विश्वविद्यालयों के वायुमंडल में पढ़ना-लिखना, व्याख्यान देना तथा सुनना, वाद-विवाद, विचारों का आदान-प्रदान, गोष्ठियां तथा सभाएं करना प्रथम कोटि के पुरुषार्थ माने जायं। पश्चिमी देशों में विश्वविद्यालयों की यह मर्यादा और आदर्श सामान्य जनता के भी आदर्श बने हुए हैं। धार्मिक क्षेत्र भी अधिकांश में इन्हीं बौद्धिक आदर्शों का अनुकरण करते हैं। वहां भेद विशेषकर इतना ही होता है कि चर्चा के विषय आत्मा, परमात्मा, उपकार, धर्मप्रचार आदि होते हैं। भारत में सामान्य रूप से यह बौद्धिक व्यापार कुछ कम है, फिर भी धर्मस्थानों पर विशेषकर बल कथा-वार्ता, सत्संग, सद्गोष्ठी, स्वाध्याय आदि पर ही होता है, यद्यपि ध्यान, जप, मनन, आत्म-चिन्तन भी किसी अंश में जरूर देखने में आते हैं।

मनोमय पुरुष के लिये उसकी इन्द्रियां और मन-बुद्धि, निश्चय ही, उसके स्वाभाविक साधन हैं और इन्हें वह सहज ही उपयोग में लावेगा। परंतु जहां उद्देश्य मनोमय पुरुषत्व को अतिक्रान्त करके आत्म-

व्यवहार प्रचलित करना हो वहां शिक्षण की शैली में परिवर्तन आवश्यक हो जायगा। मन-बुद्धि को ही सदा व्यवहार और उपयोग में लाने से मन-बुद्धि ही विकसित और सुदृढ़ होगी। इसके विपरीत आत्मा के जाग्रत् करने के लिये पहला प्रयत्न ही होता है मन-बुद्धि को शान्त करना।

भारतवर्ष की परंपरा में आध्यात्मिक शिक्षण की मर्यादाएं काफी हद तक सामान्य रूप से आज भी देखने में आती हैं। यद्यपि उनका उज्ज्वल स्वरूप हमें उपनिषदों में ही मिलता है। उपनिषदों के प्रसंग हमें बार-बार बतलाते हैं कि ज्ञान 'जानने मात्र' का विषय नहीं बल्कि हृदयंगम करने का विषय है। 'to know' जानना और 'to realize' हृदयंगम करना, इनमें हम भेद नहीं करते। परंतु वहां जानना मात्र कुछ महत्त्व नहीं रखता, हृदयंगम करना ही ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया है। इसके लिये शिष्य गुरु के पास जाता है। गुरु ऐसा व्यक्ति है जिसने वह ज्ञान हृदयंगम किया हुआ है और वह दूसरोंको उसे हृदयंगम करवा सकता है। फिर शिष्य सदा उत्कट जिज्ञासु है। जिज्ञासु शिष्य लंबी खोज के बाद अनुभवी गुरु के पास पहुंचता है और अपनी जिज्ञासा निवेदन करता है। गुरु अनेक बार जिज्ञासा की मर्यादा को परखते हैं। शिष्य समर्पण-भाव में उनके वातावरण में रहते हुए आशापूर्ण प्रतीक्षा करता है। उनके कुल के व्यावहारिक काम-काज में उचित सहयोग देता है, गौएं चरा लाता है, फल-मूल इकट्ठे कर लाता है अथवा अन्य कुछ काम करता है। श्रद्धा और जिज्ञासा को सदैव जाग्रत् रखते हुए शिष्य गुरु के वातावरण और सम्पर्क में रहकर अपनेमें विकास अनुभव करने लगता है। मौके पर कहे हुए गुरु के प्रेरणापूर्ण दो शब्द उसके अन्दर कोई नयी प्रबल गति पैदा कर देते हैं जो एक समय तक विकसित होती रहती है। वह उत्तरोत्तर यह चरितार्थ करता चला जाता है कि यह अन्नमय जगत्, वास्तव में, ब्रह्म है। फिर गुरु के नये प्रेरक शब्द उसे यह चरितार्थ करवाते चले जाते हैं कि प्राणमय सत्ता भी ब्रह्म ह। अनेक वर्षों में धीर शिष्य प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है कि यह सब चराचर जगत ब्रह्म है। उपनिषदें मौन उपदेश का भी ज्वलन्त दृष्टान्त उपस्थित करती हैं। वास्तव में आध्यात्मिक शिक्षण का उच्चतर साधन है ही वह, वाणी और व्यवहार के दृष्टान्त तो गौण चीजें हैं। हमने ऊपर कहा था कि भारत की परंपरा में आध्यात्मिक शिक्षण के अनेक सत्य सामान्य रूप से आज भी देखने में आते हैं। एक वृत्तान्त है कि किसी पिता ने अपने पुत्र के सम्मुख ही उसकी एक साधु से शिकायत की कि वह गुड़ बहुत खाता है तथा प्रार्थना की कि वे उसे गुड़ छोड़ने का उपदेश दें। साधु महोदय ने दोनोंको सात दिन बाद आने को कहा। सात दिन बाद जब वे दोनों आये तो साधुजी ने लड़के को गुड़ के संबंध में समझाया-बुझाया और उसने उनकी आज्ञा स्वीकार की। पिता ने कौतूहल से पूछा "महाराज, यह बात आपने जब हम पहली बार आये थे तभी न कह दी!" साधुजी ने सरलता से कहा "तब मैं स्वयं गुड़ खाता था, उस वक्त यह कहने में भला क्या बल हो सकता था! उस दिन के बाद मैंने स्वयं गुड़ खाना छोड़ा, इसलिये आज इसे कहने में समर्थ हुआ हूं।" आज हम यह तथ्य कम ही अनुभव करते हैं कि शब्दों के पीछे यदि अनुभव और जीवन की सत्यता है तो उनमें और ही बल आ जाता है।

उपनिषदों के आध्यात्मिक शिक्षण तथा आध्यात्मिक विकास में चार क्रमों का विशेष वर्णन मिलता है—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार। गुरु के कुल के वातावरण में, गुरु की अध्यात्म-प्रेरणा के प्रभाव में रहते हुए शिष्य गुरु के उपदेश का श्रवण करता है, उसका विशेष

रूप से मनन करता है, फिर उसके तथ्य को ध्यान द्वारा अपने चित्त में अंकित करता है, अंत में उसका उसे साक्षात्कार हो जाता है।

ये, वास्तव में, क्रम हैं आत्म-विकास के। जिज्ञासु व्यक्तियों के लिये ये बड़े आवश्यक हैं। सद्ग्रंथों का अत्यधिक स्वाध्याय या कथा-वार्ता का अत्यधिक श्रवण अपने-आपमें मानसिक कर्म और चेष्टा की वृद्धि करते हैं। श्रवण की अपेक्षा, निश्चय ही, मननपूर्वक विषय के अर्थग्रहण करने का प्रयत्न अधिक होना चाहिये। फिर जब कोई सत्य मन में काफी स्पष्ट हो जाय तो उसे ध्यान द्वारा हृदयंगम करने की कोशिश और भी अधिक। और, वास्तव में, जिस घड़ी सभी मानसिक चेष्टा शान्त हो और व्यक्ति अपने-आपको सहज रूप से संतुष्ट, प्रसन्न और प्रकाशित अनुभव करे वह घड़ी आत्म-विकास की दृष्टि से सबसे अधिक शुभ होती है।

"पूर्व और पश्चिम का नव मिलन"

गत वर्ष अदिति के अप्रैल अंक में हमने विशेष रूप से 'पूर्व और पश्चिम' पर कुछ एक लेख दिये थे। उससे थोड़ा ही पहले दिल्ली में एशियाई सम्मेलन हो चुका था। और उस समय सामान्य रूप से सार्वजनिक विचार पूर्व के देशों तथा उनकी संस्कृति के बारे में चल रहा था। निश्चय ही, आज एशिया में एक 'एशियाई' चेतना जाग्रत् हो रही है, बनकर दृढ़ भी होती जा रही है। आज जहां पूर्व सजग होकर अपने आपको पश्चिम के संबन्ध में तथा संपूर्ण संसार में अपने यथार्थ सम्मान के स्थान को अनुभव करने का यत्न कर रहा है वहां पश्चिम भी अपने पुराने दृष्टिकोण को छोड़कर पूर्व के संबन्ध में नयी धारणा बनाने की कोशिश कर रहा है।

यह, वास्तव में, एक अपूर्व सांस्कृतिक गति है जिससे अपार मानव-हित संपादित होने की आशा की जा सकती है। अब पश्चिम अपनी पुरानी अभिमानपूर्ण विचारशैली को सहर्ष और उदारता से छोड़ रहा है। वह परिवर्तित स्थिति को स्वीकार करता है और पूर्व के संबन्ध में नयी धारणा बना रहा है। उस पुरानी धारणा को कि "पूर्व और पश्चिम एक दूसरेसे इतने भिन्न हैं कि वे कभी आपस में मिल नहीं सकते" आज युरोप और अमरीका में शायद ही कोई मानता होगा। फिर भी विचारकों और राजनीतिज्ञों में अनेक दृष्टिकोण देखने में आते हैं। इधर पूर्व में भी पश्चिम के बारे में कई धारणाएं देखने में आती हैं। एक धारणा पश्चिम के विज्ञान और संस्कृति को सर्वथा ही अनुपयोगी और हानिकारक मानती है। वह पूर्व की अपनी संस्कृति को वापिस लाना चाहती है।

श्रीअरविन्द और श्री माताजी का दृष्टिकोण हम पहले इन्हीं पृष्ठों में दे चुके हैं। श्रीअरविन्द ने एक पूर्ण सम्यक् ज्ञान के रूप में पूर्व और पश्चिम के गुण-दोष को हमारे सामने रख दिया है। दोनों के बल तथा त्रुटि को स्पष्ट जतला दिया तथा एक पूर्ण दृष्टि से यह भी कह दिया है कि मानव का भावी कार्य दोनों सांस्कृतिक धाराओं का समन्वय है। उनके शब्द हम यहां फिर से देते हैं। वे कहते हैं–"प्राच्य और पाश्चात्य का एकीकरण इस युग का धर्म है। परन्तु इस एकीकरण में यदि हम पाश्चात्य को आधार या मुख्य अंग बनावें तो हम भयानक भूल करेंगे। प्राच्य ही आधार है, प्राच्य ही मुख्य अंग है। बहिर्जगत् अन्तर्जगत् में प्रतिष्ठित है, अन्तर्जगत् बहिर्जगत् में प्रतिष्ठित नहीं है। भाव और श्रद्धा शक्ति और कर्म का मूल स्रोत है, भाव और श्रद्धा की रक्षा करनी चाहिये, पर शक्तिप्रयोग और कर्म के बाहरी आकार और उपकरण से आसक्त नहीं होना चाहिये।"

श्री माताजी ने परमाणु बम्ब के संबन्ध में अपने भाव प्रकट करते हुए साफ कह दिया था कि "आ-

ध्यात्मिक उन्नति और सामर्थ्य ही भौतिक प्रगति और आधिपत्य के घोर खतरे का विरोध तथा प्रतिकार कर सकते हैं। हम भौतिक उन्नति को रोक नहीं सकते न हमें इसे रोकना चाहिये; पर इसे हमें अन्दर और बाहर के बीच एक संतुलन में प्राप्त करना चाहिये।"

यह दृष्टिकोण पश्चिम के विज्ञान को अंगीकार करता है। परन्तु उसके यथार्थ उपयोग के लिये शुद्धतर चेतना की मांग करता है। पूर्व ने जिस आन्तरिक विचार पर अपना बल लगाया था वह उसी गति से बढ़ना चाहिये जिस गति से कि हमारा बाह्य प्रकृति का ज्ञान विकसित हो। इस दृष्टिकोण के लिये अभी बहुत कम भावना देखने में आती है। परन्तु यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि जब यह भावना किसी हद तक सार्वजनिक रूप धारण कर लेगी तब पूर्व और पश्चिम परस्पर-पूरक रूप में गति करने लगेंगे और परिणाम होगा अद्भुत समन्वय। वह समन्वय अभी स्वप्न है। स्वप्न के देखनेवालों की भी कमी है। इसीलिये जब हम किसी विचारक को ऐसे स्वप्न का द्रष्टा पाते हैं तो हमें विशेष हर्ष होता है।

हाल में एक विचारक ने नहीं बल्कि एक राजनीतिज्ञ ने लन्दन से रेडियो पर भाषण दिया था। वे राजनीतिज्ञ लार्ड पेथिक-लारेन्स हैं और उनका विषय था "पूर्व और पश्चिम का नव मिलन"। उस भाषण के भाव और भावना ने हमें बड़ा प्रभावित किया है और हम साहस से कह सकते हैं कि यदि कुछ और उच्च कोटि के राजनीतिज्ञों का भी आज हृदय से यही दृष्टिकोण हो जाय तो उससे संसार का, निश्चय ही, बड़ा हित हो।

लार्ड पेथिक-लारेन्स अपने युरोपीय जीवन के गुण-दोष स्पष्ट, उदार भाव में स्वीकार करते हैं। भाषण में उन्होंने कहा "यदि आप हमारे युरोप के इतिहास के पृष्ठ पलटें तो हमारे चरित्र के विविध पहलू आपके सामने आयंगे। आपको शक्ति, दृढ़ता और व्यवसायबुद्धि के दर्शन होंगे; भौतिक कठिनाइयों से सफल संग्राम आपको दिखायी देगा; आपको गम्भीर वैज्ञानिक चिन्तन के उदाहरण मिलेंगे; आपको जुल्म और अत्याचार के विरुद्ध निरन्तर सामना करते हुए लोगों की मिसालें मिलेंगी; स्वाधीनता की रक्षा में कटिबद्ध कौमें मिलेंगी और आजकल के युरोप में आपको गरीब, निर्बल और असमर्थ लोगों के अधिकारों की रक्षा की वास्तविक भावना दिखायी देगी।" ये युरोपीय जीवन के गुण हैं। दूसरी ओर उन्होंने कहा "युरोप ने अपने इतिहास के उतार-चढ़ाव में ऐसे अवगुणों का भी प्रदर्शन किया है जिनके परिणाम-स्वरूप कोटि-कोटि जनता को दारुण क्लेश सहना पड़ा और युरोप की सभ्यता विनाश के निकट पहुंच गयी। सत्ता की भावना इन अवगुणों में सबसे प्रमुख है। समय-समय पर यह दुर्भावना विविध रूपों में प्रगट हुई है। कभी एक जाति द्वारा दूसरी जाति के गुलाम बनाये जाने के रूप में, कभी एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण के रूप में, और कभी पुरुषों द्वारा स्त्रियों के सताये जाने के रूप में।" फिर उन्होंने कहा "आपके महान् दार्शनिकों और विचारकों ने इन विनाशकारी अवगुणों की निन्दा की है। यह आपके ऊपर निर्भर करता है कि शक्ति के जिस मार्ग पर आप अग्रसर हो रहे हैं उसमें आप युरोप के प्रयोगों के परिणामों से चेतावनी लेकर लाभ उठावें।"

निश्चय ही, पूर्व के सामने पश्चिम उदाहरण भी है और चेतावनी भी। आज पूर्व में बहुत सारी ऐसी प्रगतियां भी मौजूद हैं जो पश्चिम की नकल करके पश्चिम की तरह शक्ति-सम्पन्न होना चाहती हैं। वे युरोपीय संस्कृति और विज्ञान के दुष्परिणामों को देखती ही नहीं। उनसे शिक्षा लेने का प्रश्न ही कैसे पैदा होगा। ऐसी प्रगति-

रूप से मनन करता है, फिर उसके तथ्य को ध्यान द्वारा अपने चित्त में अंकित करता है, अंत में उसका उसे साक्षात्कार हो जाता है।

ये, वास्तव में, क्रम हैं आत्म-विकास के। जिज्ञासु व्यक्तियों के लिये ये बड़े आवश्यक हैं। सद्ग्रंथों का अत्यधिक स्वाध्याय या कथा-वार्ता का अत्यधिक श्रवण अपने-आपमें मानसिक कर्म और चेष्टा की वृद्धि करते हैं। श्रवण की अपेक्षा, निश्चय ही, मननपूर्वक विषय के अर्थग्रहण करने का प्रयत्न अधिक होना चाहिये। फिर जब कोई सत्य मन में काफी स्पष्ट हो जाय तो उसे ध्यान द्वारा हृदयंगम करने की कोशिश और भी अधिक। और, वास्तव में, जिस घड़ी सभी मानसिक चेष्टा शान्त हो और व्यक्ति अपने-आपको सहज रूप से संतुष्ट, प्रसन्न और प्रकाशित अनुभव करे वह घड़ी आत्म-विकास की दृष्टि से सबसे अधिक शुभ होती है।

"पूर्व और पश्चिम का नव मिलन"

गत वर्ष अदिति के अप्रैल अंक में हमने विशेष रूप से 'पूर्व और पश्चिम' पर कुछ एक लेख दिये थे। उससे थोड़ा ही पहले दिल्ली में एशियाई सम्मेलन हो चुका था। और उस समय सामान्य रूप से सार्वजनिक विचार पूर्व के देशों तथा उनकी संस्कृति के बारे में चल रहा था। निश्चय ही, आज एशिया में एक 'एशियाई' चेतना जाग्रत् हो रही है, बनकर दृढ़ भी होती जा रही है। आज जहां पूर्व सजग होकर अपने आपको पश्चिम के संबन्ध में तथा संपूर्ण संसार में अपने यथार्थ सम्मान के स्थान को अनुभव करने का यत्न कर रहा है वहां पश्चिम भी अपने पुराने दृष्टिकोण को छोड़कर पूर्व के संबन्ध में नयी धारणा बनाने की कोशिश कर रहा है।

यह, वास्तव में, एक अपूर्व सांस्कृतिक गति है जिससे अपार मानव-हित संपादित होने की आशा की जा सकती है। अब पश्चिम अपनी पुरानी अभिमानपूर्ण विचारशैली को सहर्ष और उदारता से छोड़ रहा है। वह परिवर्तित स्थिति को स्वीकार करता है और पूर्व के संबन्ध में नयी धारणा बना रहा है। उस पुरानी धारणा को कि "पूर्व और पश्चिम एक दूसरेसे इतने भिन्न हैं कि वे कभी आपस में मिल नहीं सकते" आज युरोप और अमरीका में शायद ही कोई मानता होगा। फिर भी विचारकों और राजनीतिज्ञों में अनेक दृष्टिकोण देखने में आते हैं। इधर पूर्व में भी पश्चिम के बारे में कई धारणाएं देखने में आती हैं। एक धारणा पश्चिम के विज्ञान और संस्कृति को सर्वथा ही अनुपयोगी और हानिकारक मानती है। वह पूर्व की अपनी संस्कृति को वापिस लाना चाहती है।

श्रीअरविन्द और श्री माताजी का दृष्टिकोण हम पहले इन्हीं पृष्ठों में दे चुके हैं। श्रीअरविन्द ने एक पूर्ण सम्यक् ज्ञान के रूप में पूर्व और पश्चिम के गुण-दोष को हमारे सामने रख दिया है। दोनों के बल तथा त्रुटि को स्पष्ट जतला दिया तथा एक पूर्ण दृष्टि से यह भी कह दिया है कि मानव का भावी कार्य दोनों सांस्कृतिक धाराओं का समन्वय है। उनके शब्द हम यहां फिर से देते हैं। वे कहते हैं–"प्राच्य और पाश्चात्य का एकीकरण इस युग का धर्म है। परन्तु इस एकीकरण में यदि हम पाश्चात्य को आधार या मुख्य अंग बनावें तो हम भयानक भूल करेंगे। प्राच्य ही आधार है, प्राच्य ही मुख्य अंग है। वहिर्जगत् अन्तर्जगत् में प्रतिष्ठित है, अन्तर्जगत् बहिर्जगत् में प्रतिष्ठित नहीं है। भाव और श्रद्धा शक्ति और कर्म का मूल स्रोत है, भाव और श्रद्धा की रक्षा करनी चाहिये, पर शक्तिप्रयोग और कर्म के बाहरी आकार और उपकरण से आसक्त नहीं होना चाहिये।"

श्री माताजी ने परमाणु बम्ब के संबन्ध में अपने भाव प्रकट करते हुए साफ कह दिया था कि "आ-

ध्यात्मिक उन्नति और सामर्थ्य ही भौतिक प्रगति और आधिपत्य के घोर खतरे का विरोध तथा प्रतिकार कर सकते हैं। हम भौतिक उन्नति को रोक नहीं सकते न हमें इसे रोकना चाहिये; पर इसे हमें अन्दर और वाहर के बीच एक संतुलन में प्राप्त करना चाहिये।"

यह दृष्टिकोण पश्चिम के विज्ञान को अंगीकार करता है। परन्तु उसके यथार्थ उपयोग के लिये शुद्धतर चेतना की मांग करता है। पूर्व ने जिस आन्तरिक विचार पर अपना बल लगाया था वह उसी गति से बढ़ना चाहिये जिस गति से कि हमारा वाह्य प्रकृति का ज्ञान विकसित हो। इस दृष्टिकोण के लिये अभी वहुत कम भावना देखने में आती है। परन्तु यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि जब यह भावना किसी हद तक सार्वजनिक रूप धारण कर लेगी तब पूर्व और पश्चिम परस्पर-पूरक रूप में गति करने लगेंगे और परिणाम होगा अद्भुत समन्वय। वह समन्वय अभी स्वप्न है। स्वप्न के देखनेवालों की भी कमी है। इसीलिये जब हम किसी विचारक को ऐसे स्वप्न का द्रष्टा पाते हैं तो हमें विशेष हर्ष होता है।

हाल में एक विचारक ने नहीं बल्कि एक राजनीतिज्ञ ने लन्दन से रेडियो पर भाषण दिया था। वे राजनीतिज्ञ लार्ड पेथिक-लारेन्स हैं और उनका विषय था "पूर्व और पश्चिम का नव मिलन"। उस भाषण के भाव और भावना ने हमें बड़ा प्रभावित किया है और हम साहस से कह सकते हैं कि यदि कुछ और उच्च कोटि के राजनीतिज्ञों का भी आज हृदय से यही दृष्टिकोण हो जाय तो उससे संसार का, निश्चय ही, बड़ा हित हो।

लार्ड पेथिक-लारेन्स अपने युरोपीय जीवन के गुण-दोष स्पष्ट, उदार भाव में स्वीकार करते हैं। भाषण में उन्होंने कहा "यदि आप हमारे युरोप के इतिहास के पृष्ठ पलटें तो हमारे चरित्र के विविध पहलू आपके सामने आयंगे। आपको शक्ति, दृढ़ता और व्यवसायबुद्धि के दर्शन होंगे; भौतिक कठिनाइयों से सफल संग्राम आपको दिखायी देगा; आपको गम्भीर वैज्ञानिक चिन्तन के उदाहरण मिलेंगे; आपको जुल्म और अत्याचार के विरुद्ध निरन्तर सामना करते हुए लोगों की मिसालें मिलेंगी; स्वाधीनता की रक्षा में कटिबद्ध कौमें मिलेंगी और आजकल के युरोप में आपको गरीब, निर्बल और असमर्थ लोगों के अधिकारों की रक्षा की वास्तविक भावना दिखायी देगी।" ये युरोपीय जीवन के गुण हैं। दूसरी ओर उन्होंने कहा "युरोप ने अपने इतिहास के उतार-चढ़ाव में ऐसे अवगुणों का भी प्रदर्शन किया है जिनके परिणामस्वरूप कोटि-कोटि जनता को दारुण क्लेश सहना पड़ा और युरोप की सभ्यता विनाश के निकट पहुंच गयी। सत्ता की भावना इन अवगुणों में सबसे प्रमुख है। समय-समय पर यह दुर्भावना विविध रूपों में प्रगट हुई है। कभी एक जाति द्वारा दूसरी जाति के गुलाम बनाये जाने के रूप में, कभी एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण के रूप में, और कभी पुरुषों द्वारा स्त्रियों के सताये जाने के रूप में।" फिर उन्होंने कहा "आपके महान् दार्शनिकों और विचारकों ने इन विनाशकारी अवगुणों की निन्दा की है। यह आपके ऊपर निर्भर करता है कि शक्ति के जिस मार्ग पर आप अग्रसर हो रहे हैं उसमें आप युरोप के प्रयोगों के परिणामों से चेतावनी लेकर लाभ उठावें।"

निश्चय ही, पूर्व के सामने पश्चिम उदाहरण भी है और चेतावनी भी। आज पूर्व में बहुत सारी ऐसी प्रगतियां भी मौजूद हैं जो पश्चिम की नकल करके पश्चिम की तरह शक्ति-सम्पन्न होना चाहती हैं। वे युरोपीय संस्कृति और विज्ञान के दुष्परिणामों को देखती ही नहीं। उनसे शिक्षा लेने का प्रश्न ही कैसे पैदा होगा। ऐसी प्रगति-

यां, प्रत्यक्ष ही, पूर्व के लिये तथा मानवजाति के लिये अहितकर साबित होंगी।'

भविष्य में पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं के विकास के संबन्ध में आपकी भावना अतीव सुन्दर है। आपने कहा "आज समता और पारस्परिक आदर की बुनियादों पर पूर्व और पश्चिम का नव-मिलन हो रहा है। इस नव-मिलन में हमारी उन्नति की संभावना निहित है। पूर्व के पास गम्भीर दार्शनिक और आध्यात्मिक सचाई की महान् परम्परा है और पश्चिम के पास वैज्ञानिक परम्परा और भौतिक कार्य-क्षमता है। मानव-जाति के कल्याण के लिये इन दोनोंकी आवश्यकता है। अबतक पूर्व की जीवन-धारा एक मार्ग से वही है और पश्चिम की दूसरे मार्ग से। भविष्य में इन दोनोंका संगम होकर इन्हें एक अति महान् जीवन-धारा बनकर बहना है।"

हमें इस विचार-धारा के साथ पूरी सहानुभूति है। इसमें पूर्व और पश्चिम की विशेष प्रतिभाओं का यथार्थ तथ्य है तथा मानव का समन्वयकारी पूर्ण सत्य। जो विचारक और राजनीतिज्ञ इस विचारधारा की ओर झुकते जा रहे हैं वे मानव-हित सम्पादित करने में विशेष सहायक सिद्ध होंगे। प्रभु इस बुद्धि को अधिक प्रेरें।

चिन्तन और भाषा

चिन्तन मानव का विशेष गुण है। इसीके बल से वह इंद्रियानुभव की तत्क्षणता को अतिक्रांत करके भूत और भविष्यत् और दूरस्थ प्रदेश में गति प्राप्त करता है। 'वर्तमान' और 'इस देश' के स्थान पर वह सर्वकाल और सर्वदेश को मन में संगठित करने का यत्न करता है। वह दूसरोंके अनुभव से अपने अनुभव को परिवर्धित करता है। अपने इतिहास को जानकर आगे के लिये नये आदर्श बनाता है।

वह सभ्यता और संस्कृति रचता है, अपनी मानवता को उच्चतर स्तर तक ले जाने का यत्न करता है।

परंतु चिन्तन और भाषा का घनिष्ठ संबंध है। शब्द के बिना चिन्तन नहीं होता। आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुसंधान बतलाता है कि भाषा के विकास के साथ-साथ ही मानव का चिन्तन विकसित हुआ है और चिन्तन के साथ-साथ ही विकसित हुए हैं विज्ञान, दर्शन, कला और साहित्य। मनोविज्ञान का कहना है कि शब्दरहित चिन्तन अत्यंत कम और असाधारण अवस्था में होता है। वेदमन्त्र असभ्य मनुष्य के गीत नहीं हैं; इसके लिये एक प्रबल युक्ति, वास्तव में, भाषा के मनोवैज्ञानिक तथ्य से मिलती है। जो सूक्ष्म भाव और भावनाएं वेद के प्रचुर शब्दों में व्यक्त हुई हैं वे उच्च विकास-स्थिति की द्योतक हैं, अतः वेद एक अच्छे सांस्कृतिक काल की उपज हैं।

यहां हमने भाषा को विशेष रूप से मानसिक विकास का साधन माना है। उसे चिन्तन का माध्यम और प्रेरक ही स्वीकार किया है। परंतु, वास्तव में, शब्दों में गंभीरतर शक्ति भी प्रकट हो सकती है और उस दशा में वे मानव की गंभीरतर सत्ता, अन्तरात्मा, के प्रेरक बन जाते हैं। मंत्र-शक्ति इसी रहस्य का नाम है। जो शब्द चिरकाल तक गंभीर ध्यान का विषय रहते हैं उनके अंदर एक अपूर्व बल आ जाता है जिसका लाभ उसका प्रयोग करनेवाले उठा सकते हैं। 'ओ३म्' इसी प्रकार का एक विशेष शब्द है। भारतीय अध्यात्मवाद के लिये यह परिचित सिद्धांत है कि जिसने सत्य को सिद्ध कर लिया है वह फिर जो कहता है वह सत्य हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों की चेतना से जिन शब्दों का उद्गम होता है वे शक्तिपूर्ण होते हैं। वेदमंत्र, वास्तव में, इसी श्रेणी की वस्तु हैं। मालूम होता है, वेदकाल में लोग शब्दों के

इस रहस्य से खूब परिचित थे। आज हम उन्हें केवल बौद्धिक सत्ता के रूप में मानते हैं और अधिकतर मन की चांचल्य-तृप्ति के लिये प्रयोग करते हैं।

अपनी भाषा से दूर हटने के कारण हमें जो-सबसे अधिक हानि हुई है वह, वास्तव में, प्राचीन शब्दों के आध्यात्मिक बल से वंचित हो जाना है।

व्यक्ति के विकास में उसकी मातृभाषा का जो स्थान है वह किसी दूसरी भाषा का नहीं हो सकता। भाव और ध्वनि के जो संयोग जन्म से मातृभाषा में बन जाते हैं वे दूसरी भाषा में नहीं बन सकते। अतः चिन्तन के विकास के लिये मातृभाषा का स्थान अद्वितीय है। भारत दुर्भाग्यवश काफी समय से एक सांस्कृतिक संकट में रहा है। मातृभाषा का, जो स्वभाव से चिन्तन-प्रेरक होती है, जीवन में स्थान और मान न था और जिस भाषा का स्थान और मान था वह उससे अत्यंत भिन्न थी और उसका सामान्य प्रयोग सीखने के लिये भी भारतीय मानव वर्षों कष्टप्रद तपस्या करता रहता था।

अब देश की परिस्थिति बदल रही है। हमारी मातृभाषाएं फिर हमारे व्यवहार तथा चिन्तन का माध्यम बनेंगी और हम सहज ही अपने प्राचीन सांस्कृतिक अस्तित्व से सम्पर्क अनुभव करेंगे, दार्शनिक चिन्तन तथा आध्यात्मिक अनुभव के सूक्ष्म भावों को अपने स्वाभाविक शब्दों में अनायास ग्रहण करने लगेंगे।

परंतु उस स्थिति में पहुंचने के लिये हमें कुछ साधना करनी होगी, इन शब्दों के साथ घनिष्ठ तदाकारता अनुभव करनी होगी, इन्हें अपने भाव और भावनाओं का संगी-साथी बनाना होगा, इनके धर्म को सहानुभूति और प्रेम से स्वीकार करना होगा। तब वह स्थिति पैदा होगी जिसमें कि हमारी संस्कृति के चिर-परिचित शब्द हमें गंभीर प्रेरणा देकर हमारे अन्दर नये जीवन के संचार का साधन बन सकेंगे।

श्रीअरविन्द के ग्रन्थों के बारे में पाठकों का अनुभव है कि उनका एक निजी वातावरण है अथवा उन्हें केवल बौद्धिक रूप से पढ़ने और समझने की जगह एक गंभीर तल्लीनता तथा आन्तरिक प्रेम और लगन से पढ़ना चाहिये। इस प्रकार पढ़ने से वे सहज ही अन्तरात्मा की स्थिति को जाग्रत् कर अपने आनन्द और प्रकाश को देने लगते हैं। जो चीज आध्यात्मिक अनुभव से उपजी हो उसे यथार्थ में अधिगत भी उसी प्रकार की उपयुक्त शैली से किया जा सकता है।

आध्यात्मिक ग्रन्थों को अन्तरात्मा के गंभीर आसन से पढ़ना चाहिये तथा सामान्य बौद्धिक पुस्तकों के लिये मन-बुद्धि का आसन ही काफी है। कला की वस्तुओं को, कविता, चित्र व संगीत को, तार्किक बुद्धि से अधिगत नहीं किया जा सकता, उनके लिये सहानुभूतिपूर्ण तदाकारता के प्रयत्न की आवश्यकता है, उसीसे उनका सौन्दर्य ग्रहण होता है। यह आसन अपने आपमें एक अलग वस्तु है। आध्यात्मिक आसन, वास्तव में, एक व्यापक गंभीर स्थिति है जो बौद्धिक और भावात्मक दोनों आसनों को अधिकृत कर सकती है।

अब जैसे भारतीय भाषाएं भारतीय व्यवहार और चिन्तन का सामान्य माध्यम बनेंगी वैसे ही भारत की चेतना नया विकास अनुभव करेगी। भाषा के विकास में सहयोग देना भारतीय चेतना को विकसित करने में सहायक होना है। यह नया विकास सामान्य रूप में मानसिक विकास ही होगा परंतु इसके साथ देश के आध्यात्मिक विकास का प्रश्न भी गंभीर रूप से जुड़ा हुआ है।

—इन्द्रसेन

साहित्य-समीक्षा

जीवन-साहित्य (मासिक पत्र, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी देहली)

पत्र का सांस्कृतिक दृष्टिकोण मौलिक और अपूर्व है। इसका सारा वातावरण सत्य, शुद्ध हृदय, मानवता, आदर्श तथा सेवा की भावना से ओत-प्रोत है। यह "जीवन की अहिंसक रचना" करना चाहता है और इसके लिये नित्य गंभीर प्रेरक विचार उपस्थित करता है। निश्चय ही, इसकी प्रेरणा आत्म-विश्वास, स्वतंत्र विचार तथा उन्नति के लिये हितकर है।

इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता भी नहीं। यह विशाल सार्वभौम नैतिक नियमों को ही जीवन के संपूर्ण क्षेत्र में लागू करना चाहता है। वाणिज्य-व्यापार हो, राजनीति हो अथवा अन्य कोई क्षेत्र हो, नीति की सद्भावना और सद्-व्यवहार से कुछ बाहर नहीं हो सकता। फिर व्यक्तिगत जीवन का नैतिक नव निर्माण सार्वजनिक जीवन के नव-निर्माण के लिये उचित रूप में आवश्यक माना प्रतीत होता है। यह दृष्टिकोण, वास्तव में, इस पत्र को अथवा आधुनिक संसार को गांधीजी की क्रियात्मक देन है।

ठीक यहींपर, हमारे विचार में, इस पत्र के सांस्कृतिक दृष्टिकोण की सीमा भी है।

हमारी जानने की इच्छा होती है कि अहिंसा के नैतिक नियम का मूर्त्त स्वरूप तथा अस्तित्व क्या है? क्या हमने मानवी व्यवहार की जांच करके इस रत्न-रूपी नियम को खोज निकाला है और आगे के लिये इसे हम मानव मानव के सब मतभेदों को सुलझाने के लिये पथ-प्रदर्शक मर्यादा के रूप में निर्धारित करते हैं? अथवा क्या यह ईश्वर की दिव्य चेतना का स्वाभाविक गुण है जिसका हम अनुकरण करना चाहते हैं? पहली अवस्था में यह एक व्यवहार का उपयोगी नियम हो सकता है, जिसका, निश्चय ही, हमें उपयोग करके व्यावहारिक लाभ उठाना चाहिये। दूसरी अवस्था में जब कि यह ईश्वर की दिव्य चेतना का गुण है तब, निश्चय ही, गुण की अपेक्षा वह गुणी, ईश्वर और उसका स्वरूप हमारे लिये निर्णयात्मक ध्येय होगा न कि अपने आपमें उसका कोई एक गुण। हमारे विचार में गीता मानव के लिये केवल एक ही अन्तिम मानदण्ड अथवा ध्येय उपस्थित करती है—मामेकं शरणं व्रज, भगवान् की शरण। भगवान् की दिव्य चेतना ही अद्वितीय अस्तित्वपूर्ण तथ्य है। नियम, सभी प्रकार के, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक आदि देश और काल के संबंध से उसी नित्य चेतना से संपुष्ट होने पर सत्य हो सकते हैं। उन्हें अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार करने से वह सहज बहिर्मुखी मर्यादाएं बन जाती हैं और भावना के विकास के लिये हानिकारक बनने लगती हैं।

पत्र के संपादक श्री हरिभाऊजी उपाध्याय हैं तथा इसे काका कालेलकर और आचार्य विनोबा सरीखे गंभीर तथा मौलिक विचारकों का भी सहयोग प्राप्त है। पत्र का वार्षिक मूल्य केवल ३) रु. है। छपाई सुन्दर है। सर्वथा उपादेय है।

दक्खिनी हिन्द (हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास)

मद्रास सरकार की हिन्दुस्तानी मासिक पत्रिका है। लेख, चित्र, छपाई की दृष्टि से बड़ी सुन्दर। इसमें तामिल संस्कृति, भाषा आदि के लेख हमेशा ही रहते हैं, जो कि इस पत्र की विशेषता है और

हिन्दी साहित्य के लिये आभूषण। दक्खिनी हिन्द के ३-४ अंक हमने देखे हैं। इनमें अधिकांश लेख तामिल अथवा आंध्र देश के सज्जनों के हैं। लेख बड़े सुन्दर हैं। हमें आशा है कि इनमेंसे काफी लेख मूल में ही हिन्दुस्तानी में लिखे गये होंगे।

इस पत्र का देश के सांस्कृतिक विकास के लिये भारी महत्त्व है। यह उस एकता को संपादित करने में हाथ बंटा रहा है जिसे प्राप्त करके ही देश महान् और गौरवान्वित वन सकेगा। दक्षिण की विपुल सांस्कृतिक धाराओं का परिचय प्राप्त करने के लिये इसे हम बड़े चाव से पढ़ते हैं। हमें विश्वास है इसे शीघ्र ही दक्षिण तथा उत्तर में उचित प्रसिद्धि प्राप्त होगी।

पत्र का संपादन श्री रामानन्दजी शर्मा के हाथों बड़े सुचारु रूप से हो रहा है। सालाना चंदा ४) रु. है।

—इन्द्रसेन

लेखक-परिचय

श्री बालमुकुन्दजी—आप हिन्दी के अच्छे लेखक तथा कवि हैं। अदिति के लिये कुछ भावना रखते हैं। इसीलिये आपने अपनी यह "आशा को चैतन्य करो हे!" आध्यात्मिक-प्रेरणापूर्ण कविता अदिति में प्रकाशित होने के लिये बड़ी उदारता-पूर्वक भेजी है। धन्यवाद।

श्री अनूपजी—आप हिन्दी के पुराने लेखक हैं। अनेकों उपन्यासों के रचयिता हैं। कुछ अरसे से आध्यात्मिक जिज्ञासा के कारण श्रीअरविन्द आश्रम में आकर साधक रूप से रह रहे हैं। आपकी साहित्यिक भावना स्वाभाविक ही एक गम्भीर और समन्वयकारी नये आदर्श को ग्रहण कर रही है। हम बड़ी उत्कण्ठा से आपकी नयी रचनाओं की प्रतीक्षा करते हैं। वर्तमान लेख (अदृश्य शक्ति का हाथ) में आपने श्रीअरविन्द आश्रम-संबंधी अपने प्रथम सम्पर्क को शब्द-रूप में पाठकों को प्रदान किया है।

श्री रामेश्वरीदेवीजी—आप आश्रम की साधिका हैं। साधना की भावना से रामायण को पढ़ने का ही यह उनका लेख फल है। रामायण में तथा सामान्य जीवन में यह समर्पण का सौन्दर्य अनुभव करने में जरूर कुछ सहायक होगा।

वेद-रहस्य

श्रीअरविन्द के तीन महान् ग्रन्थों–The Life Divine, The Synthesis of Yoga, The Secret of the Veda–में से तीसरे का यह अनुवाद है। प्रताप-निधि की आयोजना द्वारा श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस में छप रहा है और शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा।

अनुवादक श्री आचार्य अभयदेवजी हैं। पुस्तक का दाम लगभग १०)रु. होगा। पहले सूचना आ जाने से ग्रन्थ तैयार होते ही भेज दिया जायगा।

पत्र-व्यवहार श्री अभयदेवजी, श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सर्कस, पोस्ट बाक्स ८५, नई दिल्ली तथा अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी से किया जा सकता है।

पांडिचेरी नी पराग

कच्छी और गुजराती भाषा में श्रीअरविन्द और श्री माताजी के प्रति भक्तिभाव-पूर्ण चालीस पदों की अपूर्व पुस्तक है। इसीके दो पद रिकार्ड में भी भरे गये हैं।

लेखक :—

भक्त कवि श्री शिवजी भाई देवसिंह

प्रसिद्ध-नाम

श्री मगन बाबाजी

मूल्य १० आने

कुंवर जी देवशी एण्ड को०, १६४, लोहार स्ट्रीट, बम्बई नं० २

योगविचार

यह "श्रीअरविन्द के योग पर अनुभवपूर्ण लेखों का संग्रह" हाल में ही प्रकाशित हुआ है। इसके कुछ एक लेख ये हैं—जीवन और योग, योग का उद्देश्य, मनोविज्ञान और योग, श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग, श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातंजल योग। पहला लेख श्रीअरविन्द का, योग-समन्वय में से, है। अन्य लेख आश्रम के अनुभवी साधकों के ही हैं।

अदिति माता

इसमें 'अदिति का स्वरूप', 'मां', 'अदिति की पुकार' आदि लेख हैं। अदिति की पहले वर्ष की फाइल के अभाव को किसी अंश में पूरा करने के लिये यह लेखसंग्रह प्रकाशित किया गया है।

अदिति की फाइलें

सन् ४४, ४५ व ४६ की पूरी चारों अंकों की फाइलें प्राप्य हैं। दाम प्रति सेट ५)। सन् ४७ के केवल अगस्त और नवम्बर अक। दाम प्रति अंक १॥)

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

पुस्तक	मूल्य
चार साधन	॥)
योगविचार	२॥)
विचार और झांकियां	।॥)
दयानन्द	।॥)
नये वर्ष की प्रार्थनायें	।)
दुर्गास्तोत्र	।)
अदिति माता	१)
गीताप्रबन्ध	४॥)
माता	।॥)
योगप्रदीप	।॥)
योग के आधार	२।)
उत्तरपाड़ा अभिभाषण	।=)
इस जगत् की पहेली	१।)
जगन्नाथ का रथ	।॥)
श्रीअरविन्द के पत्र	॥)
धर्म और जातीयता	१॥)
गीता की भूमिका	१।॥)
श्रीअरविन्द का आश्रम और उनकी शिक्षा	।)
मातृवाणी	२।)
सर्वोत्तम आविष्कार	।=)
वार्षिक प्रार्थनायें	=)
श्रीअरविन्द और उनका योग	॥=)
पूर्णयोग	१॥)

फोनः कार्यालय ८२८३

श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस, नयी देहली
(स्थान—एस. एन. संडर्सन एण्ड को.)

फोन: घर २५१८